UNIVERSAL
LIBRARY
OU_178719
UNIVERSAL
LIBRARY

लेखक की अन्य रचनाएँ

कहानी संग्रह :

१. मौली ... ... १।।।)

२. नया रास्ता ... २।

* ३.

४.

५.

मूल्य २।।)

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 823.1 | P 14 H Accession No. G.H. 1138

Author पहाड़ी

Title अधूरा चित्र | 1946

This book should be returned on or before the date last marked below.

अधूरा चित्र

लेखक
श्री पहाड़ी

प्रकाशगृह, इलाहाबाद

प्रवर्धित द्वितीय संस्करण १९४६

दो रुपया, आठ आना

मुद्रक :
आर० एन० अवस्थी,
के० पी० प्रेस एन्ड प्रिंटिंग स्कूल, इलाहाबाद

अपना दृष्टिकोण

एक :

अधूरा चित्र मेरा चौथा कहानीसंग्रह है। आज पाठकों को अपनी कहानियों के बारे में कुछ बतलाना पड़ेगा। कहानी लिखना जितना सरल काम है, उस पर कुछ कहना उतना ही कठिन। मैं एक मौलिक कहानी लेखक हूँ, समालोचक नहीं। आज तक मैंने अपनी कहानियों की चीर-फाड़ इसलिए नहीं की। मैं कहानी लिखता हूँ, यह मेरा पेशा नहीं। यह लिखना किसी आर्थिक पहलू का सवाल भी हल नहीं करता। न लिखकर साहित्य में अपनी कोई हैसियत बनाने की चाहना ही मुझे है। इस सब के बाद भी मुझे कहानी लिखनी पड़ी और आज भी लिख रहा हूँ। आज मैं उलझन में पड़ जाता हूँ कि यह जो मैं कहानियाँ लिखता हूँ वह क्या है? यह कोई खास कला नहीं। जिस तरह बातें करने के अलग-अलग तरीके होते हैं, उसी तरह घुमा-फिराकर कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। सब पुरानी, दुनिया में फैली बातों को नया रङ्ग-रूप देकर आज के वातावरण और घटना के अनुकूल बना दिया जाता है।

एक छोटी कहानी है :

एक कुत्ता सड़क पर लेटा हुआ था। किसी ने उससे पूछा कि वह उस तरह वहाँ क्यों पड़ा है। उसने चटपट जवाब दिया कि वह भले और बुरे की पहचान करता है। जो भला होता है वह चुपचाप चला जाता है, जो बुरा वह लात मारकर।

कुत्ते ने शायद यह बात नहीं कही होगी। इन्सान ने कुत्ते को कसौटी बनाकर व्यक्तियों की पहचान करवायी है।

अपना-अपना लिखने का ढङ्ग है। मैं एक छोटी कहानी लिखता हूँ : एक पत्थर कोलतार से पुती चौड़ी सड़क पर पड़ा हुआ है। एक भिखारी उधर से गुजरता है। उसे ठोकर लगती है। उसे सामाजिक ठोकरें खाने की आदत पड़ी हैं, वह उसे भी पी चुपचाप आगे बढ़ जाता है। एक निराश-प्रेमी को भी उसी पत्थर से चोट लगती है, वह उसके जीवन की पहली निराशा है। इस चोट से वह चोट दुख जाती है। वह अपने को अभागा घोषित करता है। एक पुलिसमैन उधर से निकलता है, उसके बूट भी उस पत्थर पर लगते हैं। वह 'शासन के प्रतीक' रूप में उसे एक और ठोकर मारता है। एक परिवार उस रास्ते घूमने जा रहा है। बच्चे को ठोकर लगती है। पिता सोचता है किसी और बच्चे को भी लगेगी। वह उस पत्थर को उठा कर पास के खड्ढे में फेंक देता है।

कहानी कहने की प्रथा बहुत पुरानी है। पहले आदि आर्यों में प्रकृति व दुनिया के निर्माण की कथा प्रचलित हुई। अग्नि, वायु आदि देवता भी कथा के रूप में आए। सृष्टि बढ़ती चली गई और समाज का निर्माण हुआ, फिर 'राजनीति भी छोटी-छोटी कहानियों के रूप में बनाई गई। आगे चलकर प्रकृति, राजा, समाज व मानव-भावनाओं का कथारूप भी हमें 'कादम्बरी' में मिलता है। इसी तरह कहानी कई मंजिलें लाँघकर आज के नए रूप में आयी है। प्राकृतिक वर्णन, समाज के वीरों की कहानियाँ, घटनायों का जाल और आज वह समाज व्यक्ति और समूहों के बीच का जो मनोवैज्ञानिक रिश्ता है, उस ओर तेजी से बढ़ रही है।

मुझे अपने पात्रों का चुनाव करने में कठिनाई नहीं होती है मैं पत्र को उठा लेता हूँ। सड़क पर पड़े पत्थर की तरह घटनाएँ स्वयं उसे चारों

ओर घेरती है, मुझे अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। इसी तरह मैंने कहानियाँ लिखी हैं। कहानी का एक पूरा ढाँचा मैं पहले कभी नहीं बनाता हूँ। वह स्वयं ही बनता है। यही मेरी कहानी की कहानी है।

* * *

दो :

अब कुछ 'अधूरा चित्र' और उसकी कहानियों पर भी लिख रहा हूँ।

'तीखा व्यंग', जीवन-मनोविज्ञान के छुपे कारण का प्रश्न हल करने में सफल हो सकता है या जीवन 'लक्षण' में सीमित भर मान लिया जाय या फिर जो 'भद्दा' है उसका हमारे हृदय में कौन सा वास्तविक स्वरूप है। इस तरह की कई समस्याओं को विभिन्न पहलुओं से परखने का लोभ अक्सर मुझमें उठा, उस सब पर एक राय नहीं दी जा सकती है। कारण कि इन्सान कई उलझे व्यक्तित्वों का बना पुतला है। साथ ही घटना और वातावरण भी साध्य हैं, जिनको 'यूँ ही' कहकर नहीं टाल सकते हैं। किसी एक इन्सान के व्यक्तित्व को प्रतीक-रूप में मान लेना भी गलत कसौटी होगा। व्यक्ति में भावना, भावुकता, निराशा, दुःख, क्रोध आदि भीतरी दृष्टि होती हैं। वह अपने को घमंडी भी बनाने की क्षमता रखता है। प्रति दिवस के जीवन में 'अवसर' के साथ-साथ स्वयं व्यक्ति और उसकी दुर्बलताएँ भी उस पर असर डालती हैं। कहानी का व्यक्ति, कहानी का वातावरण, कहानी की घटनाएँ—सब उस, व्यक्ति के चुने अवसर का ढाँचा-मात्र है। वह लेखक के प्रति-दिवस दृष्टि में पड़ने वाले व्यक्तियों या समय का एक चुना हुआ खाका होता है। कभी वह एक दरजे का व्यक्तित्व होगा। जहाँ अलग-अलग वर्गों की दूरी से वह अलग खड़ा हुआ मिलता है। उसका सही चित्रण लेखक की कुशलता पर निर्भर रहता है।

आज की कहानी राजा रानी, हड्डी-मांसवाले शारीरिक व्यक्तित्व से अलग, इन्सान और समूह के मनोवैज्ञानिक उफानों की चर्चा है। उसका चित्रण फोटोग्राफ के 'निगेटिव' की तरह है, जिस पर कभी-कभी फोटोग्राफर यदा-कदा सुन्दर 'टच' दे दिया करता है। आज की कहानी का रूप विज्ञान के विद्यार्थी का प्रयोग है, जो कि वह प्रयोगशाला में अन्वेषण करने की चाहना रखकर स्वयं तरह-तरह के प्रयोग सफलतापूर्वक करता है। आज की कहानी का रूप तो एक सर्जन की टेबुल पर पड़े मरीज का सह हाल है, जिसे पैने हथियारों से चीर-फाड़ कर वह जान लेना चाहता है कि रोग क्या है? 'लैला मजनू' का रोमांस अब बीती कहानी है, जिसमें प्रेम की परवशता थी। वह उन राजकुमारों की बहादुरी का पाठ नहीं पढ़ाती है, जो राजकुमारी को छुड़ाने के लिए सात समुद्र पार की यात्रा करते थे।

आज की कहानी 'निराशावाद' की कहानी है, जिसका सही कारण 'आर्थिक दासता' है। उसका रूप एकाएक पहचान लेना कठिन होता है। जो सनातन है और सत्य है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। वैसे हम इतिहास के एक ऐसे अवसर से गुजर रहे हैं, जब कि शीघ्र ही 'वस्तुवादी-आकर्षण' और 'आर्थिक दासता' एक नए पहलू में प्रवेश करनेवाली है। आगे सामाजिक सिद्धान्त और इन्सान के जजबात आज के से नहीं रहेंगे। धर्म और नैतिकता की आड़ से बाहर, समाज और शासन का ढाँचा बदल जावेगा। आज तो अविश्वास बढ़ रहा है। वैज्ञानिक सत्यता भी अनायास सन्देह पैदा कर देती है। हमारा धर्म, राजनीति और आर्थिक दासता का जो रूप आज है, कल वह यही नहीं रहेगा। डूबते हुए मध्यवर्गीय समाज का निराशावाद भी आज जर्जर हो चला है। मेरी ये कहानियाँ उस अस्वस्थ समाज की कहानियाँ ही अधिक हैं। वह मिट रहा है। कल की हमारी कहानियाँ, इन मुर्दा कहानियों के इस टूटे-फूटे ढाँचे पर ही नए तौर पर निर्माणित होंगी।

सस्ती भावुकता मिट जावेगी। एक नया प्रभाव और नई ताक़त उन कहानियों में होगी, जो स्वस्थ होगी।

हमारी पिछली कहानी सामन्त-शाही, पूँजीवाद के बीच पड़े रुग्ण और अस्वस्थ समाज की घटनाएँ हैं। जिस दासता के प्रति हमें विश्वास नहीं वह स्वयं मिट जावेगी। समाज भिन्न-भिन्न स्वस्थ 'समूहों' में परिणत होगा। समूहों की कहानी आज से कहीं स्वस्थ होवेगी। उनकी धुँधली रूप-रेखा आज की कहानी में आ गयी है।

यह 'अधूरा चित्र' है। जिसकी कहानियों पर वक्त का भारी असर पड़ा है। वह कैसी कहानियाँ हैं, यह पाठक कहेंगे। मैंने एक नए दृष्टिकोण से कहानियाँ लिखी हैं। पाठकों को जैसी लगेंगी वे ही जानें।

द्वितीय संस्करण में कुछ रचनाएँ बढ़ा दी हैं—

प्रकाशगृह
३१ ए, बेली रोड
इलाहाबाद

पहाड़ी

स्वर्गीया पद्मा दीदी को

विषय-सूची

१—रज्जो	...	११
२—आखिरी-स्केच	...	३०
३—भद्दी दुनिया	...	४४
४—कुसुम की बात	...	५४
५—मकड़ी का जाला	...	६७
६—चित्रकार और शिल्पी	...	८३
७—मृत्युगीत	...	९९
८—मौंचू और मीला	...	११२
९—मनोवैज्ञानिक पहलू	...	१३१
१०—कंकड़, चूना, ईंटें	...	१४७
११—रुक्मणी के घर	...	१६३
१२—तीखा व्यंग	...	१७७
१३—सरला, विनोद और !	...	१९१
१४—अधूरा चित्र	...	१९९

रज्जो

महीम खा-पीकर बाह मोढे पर बैठा चुपचाप सिगरेट फूँक रहा था। भीतर चिक की ओट में रज्जो चारपाई पर लेटी थी। आज रज्जो में पिछली सरलता और उत्साह नहीं। चेहरा फीका पड़ गया है।

अब महीम ने पूछा, "किस डाक्टर का इलाज है?"

"डाक्टर का.....!" रज्जो मलिन हँसी हँसी। कुछ देर वह हँसी उस घर के कोने-कोने से प्रतिध्वनित होती रही। अब वह चुप्पी को हटाते बोली, "यूनानी, देशी और होमोपेथी सब इलाज हो लिये, फायदा कुछ नहीं हुआ। अब तो.....।"

"पानी माफिक नहीं होगा। कुछ दिनों को ताई के पास गाँव न चली चलो।"

"यहाँ का जंजाल भी छूटे तब न। कल साँझ तुमने हो नहीं देखा। उनको खाना हजम नहीं होता। लाख कहती हूँ, अपनी सेहत की परवाह किया करो, पर मानते कब हैं।"

"तुझे भी तो लापरवाही नहीं करनी चाहिए। कब तक आखिर यह सब चलेगा।"

"प्राण जल्दी छूटेंगे नहीं, यह तो जानती हूँ। कुछ महीने और सही, फिर छुटकारा मिल जावेगा।" रज्जो मुसकराई।

वह मुस्कान भी अजीब लगी। रज्जो जीवन के प्रति उदासीनता ठान, यह कैसी मखौल उड़ा रही थी। जैसे कि उपेक्षा को भेद न मान, विश्वास साबित करना चाहती हो।

"अब तो बड़ी-बूढ़ी और पुरखिन बन गई है।" महीम ने सिगरेट राख एक ओर झाड़ते हुए कहा।

"सिगरेट पीनी नहीं छोड़ी", रज्जो जैसे कि अब सही पहचान पा गई थी।

"सिगरेट ! भला अब टोकनेवाला ही कौन है।"

"चाची कुछ नहीं कहती।"

"कितना कहे, अब तो चुप रहना सीख गई है।"

"हुक्का पिया करो, भर लाऊँ।" कह कर रज्जो उठी थी कि महीम ने मना करते कहा, "नहीं ! नहीं !"

रज्जो फिर भी उठ खड़ी हुई। सिर पर साड़ी का आँचल सरकाया। रज्जो मैली पुरानी चिप्पे लगी साड़ी पहने थी। आज कितना सब्र उसे है। महीम ने टोका, "अभी सिगरेट पी, कुछ देर बाद सही।"

"सिगरेट ठीक चीज नहीं है। इससे तन्दुरुस्ती बिगड़ जाती है देख रही हूँ, अब तुम पहले से बहुत दुबले हो गये हो।"

"और तू ?" महीम ने बात काटी।

"मैं !" रज्जो अटकी। सोचा अपने मन में, महीम सब क्यों जान गया। वह तो उससे सब कुछ छुपाना चाहती थी। अपनी कुछ और कोई भी बात कहने का अधिकार अब उसे नहीं है। क्या स्वामी के बाद वह उसकी व्यक्तिगत बातें जानने का अधिकारी आज भी है ? क्या वह उससे सब कह और कुछ पूछ सकती है ? पति की आज्ञा क्या जरूरी नहीं होगी ? आज अब वह अपनी गृहस्थी वाले दायरे में है। उसका अपना एक अधिकार और एक जिम्मेदारी भी है।

"क्या रोग है ?"

"जब से यहाँ आई, खाना हजम नहीं होता और साथ-साथ हल्का बुखार भी रहता है।"

"सुना, सेन यहाँ अच्छे डाक्टर हैं।" साँझ को उनको ले आऊँगा।"

"वही आकर आबदाना नहीं बढ़ा सकेंगे।"

"क्या ?"

रज्जो चुप रही।

महीम ने उस गुमसुम बैठी हुई रज्जो को देखा। आज उसे अपनी कुछ भी फिक्र नहीं है। कल उसके लिए लाई साड़ी, सिलाई-बुनाई की किताबें, ऊन की पिंडिया और लटकन का जोड़ा. यह सब देने की याद उसे नहीं रही थी। अब वह सब कुछ दे देगा। लेकिन उसकी धारणा गलत निकली। अब आज रज्जो को काढ़ने-बुनने का शौक कहाँ रह गया है। उसे तो अपने शरीर के हिफाजत तक की फिक्र नहीं। उससे सहज छुटकारे की माँग वह बराबर करती है। क्या उसे अब यही पाना बाकी रह गया है? इस घर की गरीबी के साथ उसने अपने को मिटा दिया है। अन्दर-ही-अन्दर मन में घुलती है। उसका पति ऑफिस में नौकरी करता है। रज्जो के लिए सब सहूलियत देता है। किन्तु मध्यवर्गीय परिवार का रूखा वातावरण, कुछ भी जहाँ व्यवस्थित नहीं; बात-बात में पैसे की रुकावट; यह सब रज्जो को डस गया है। हँसी-खुशी में पली रज्जो के लायक यह परिवार ठीक नहीं था?

'झर-झर', महीम ने दियासलाई बाल कर, सिगरेट सुलगाली। रज्जो चौंकी। बोली, "फिर सिगरेट। अब तो पूरे नशेबाज बन गये हो। चाची को चिट्ठी में लिखूँगी।"

"मेरी शिकायत!"

"कह दिया, सिगरेट पीनी ठीक नहीं होती। अपने मन के हो गये हो तब कुछ कहना बेकार है। पुराने हुक्का पीते थे तब क्या काम नहीं चलता था।" रज्जो उठी और ढूँढ़-ढाँढ़कर हुक्का ले आई। भरकर महीम के आगे सरका दिया।

"घर की मालकिन हो, मेहमान का आदर होना ही चाहिए।" कह कर महीम ने इतमीनान से हुक्का पीना शुरू किया—गुड़-गुड़-गुड़!

"अब तो चाची से नहीं झगड़ते होगे।"

"झगड़ा? वह तो रोज का धन्धा है माँ तो हर बात में कुड़-

कुड़ाहट करती है। उसे मौत आ जाती तो छुटकारा मिल जाता।" बोला ही महीम।

"राम-राम! ऐसी बात न कहो। चाहते होगे कि इधर-उधर के लुच्चे-लफंगे, घर में चौकड़ी जमा कर रात-दिन बैठे रहा करें। तब स्वतंत्र हो जाओगे न।"

"रज्जो!" अनायास ही महीम के मुँह से छूटा। यह शब्द सुनकर रज्जो के शरीर में जीवन आया। सब ओर सारा रोग भागता लगा।

और इस तरह पुकारकर महीम स्वयं असमंजस में पड़ गया। देखा उसने कि रज्जो चारपाई पर बैठी चुपचाप पाँव हिला रही है। कुछ देर बाद वह बोली, "सुना, पिछले साल चाची यात्रा करने गई थी।"

गुड़-गुड़-गुड़! महीम हुक्का पी रहा था।

"तुम्हारी शादी का क्या हुआ?"

गुड़-गुड़-गुड़, हुक्का चालू ही रहा।

"चाची की मरजी डिपुटी साहब की लड़की से थी। अब तो पक्का हो गया होगा। पिछले दिनों सुमित्रा ने यही लिखा भी था।"

गुड़-गुड़-गुड़.....।

"अब के जाड़ों में होगी। मुझे जरूर बुलाना।"

लेकिन फिर वही गुड़-गुड़-गुड़.....।

इन सब बातों का जवाब तो रज्जो खुद जानती थी। भला महीम क्या बतलाता। यह तो रज्जो वैसे ही कुछ पूछने भर को पूछ रही थी। निरा कोई खेल जैसे खेल रही हो। रज्जो को उसके घरवाले, पहले कई बार बुला चुके हैं। वह यहाँ बँध गई है। घर छोड़ नहीं सकती। मन में कोई निम्नता दबोचे रहती है। अपनी गरीबी के कारण पिता का घर तक त्याग चुकी है। सबसे अलग रहने की ठान कर किसी से भी मतलब नहीं रखती है। महीम के बुलाने पर भी थोड़े ही जावेगी। बहाना बनाने को वह एक उलाहना सौंप चुकी है। निरी उसकी भावुकता का उफान था।

महीम वह अपनी 'गुड़गुड़ी' के बीच निश्चित बैठा देख रहा था रज्जो को। उसकी सारी बातें सुनकर उसकी गृहस्थी को समझ रहा था। यहाँ जबसे वह आई है एक दिन भी खुश नहीं रही। अपने मन में मैल जमा करके बीमार पड़ गई है। दुःख मोल ले लेना ही अब उसका धन्धा है। भविष्य का कोई खयाल उसे थोड़े है। चाहे रज्जो मजाक करे या सहज ही कुछ बात कह दे, एक दुःखान्त की भावना अनायास महीम के दिल को घेर लेती है। वह यह सब पाकर उलझ, बैचैन हो उठा है। महीम व्यवहार में भले ही पक्का हो, फिर भी कच्ची चोटें उसे बेचैन बना देती हैं। रज्जो के पति को वह देख चुका है। उनके प्रति उसे कोई गुस्सा नहीं। अपने प्रति वह लापरवाह हो-हो, पत्नी के लिए सब कुछ उठाये हुए है। नौकरी उसके बाद संध्या को दवाखाना और रज्जो की फिक्र। यह सब बातें वह किसी से नहीं कहता है। अपनी बीबी के खातिर सब मुसीबतें उसे स्वीकार हैं। उसके चेहरे से कहीं भी परेशानी जाहिर नहीं होती है।

रज्जो उसी तरह चारपाई पर बैठी रही। धोती पर एक ओर हल्दी का पीला बड़ा धब्बा पड़ा हुआ था। किनारे पर वह जली भी थी, जिसे सीकर सुधारा गया था। उसकी बचपनवाली तुनुक-मिजाजी न-जाने कहाँ चली गई थी। यह रज्जो पिता के घर में जरा-जरा सी बात पर नाखुश हो जाती थी। आज वह बात बिसार चुकी है। पति ही उसकी सब कुछ है। उसके जीवन-आड़ में दुबक-दुबककर सावधानी से चला करती है। इधर-उधर की दुनिया से उसे कोई सरोकार नहीं है। अपने जीवन की सारी उम्मेदें पति को सौंपकर और कोई भी चाहना अब उसे नहीं है। छोटी-छोटी बातों पर वह नहीं सोचा करती है। पहले अपने को खूब कोसा करती थी। वह आदत भी छूट गई। लाचारी को लाचारी मानकर अधिक पिछली बातें नहीं दुहराती है। अब आज के जीवन को ही सही गिनती है। पिछली चर्चा को धोखा साबित कर चुकी है।

तो रजो धीरे-धीरे अब फिर बोलने लगी। सब कुछ कहना जैसे कि उसे हो। बोली, "अच्छा हुआ, आ गये। अपने गाँव का आदमी बरसों में देख पड़ता है।"

"तू गाँव चल। ताई ने कहा था कि साथ लेते आना।"

"गाँव ! वहाँ अब अपना क्या है।" रजो हँसी। कहा ही फिर "देखो, कब जाना होता है। उनसे पूछूँगी।"

'उनसे' पूछकर रजो चलेगी। ताई और महीम के अधिकार से ऊपर एक और हैं। उनकी आज्ञा मानकर वह चलती है। तब महीम क्या कहता।

"किसन की माँ अब कैसी है। बेचारी ने कभी भले दिन नहीं देखे हैं।"

"वह तो पिछले साल मर गई।"

"मर गई, तर गई।" सरलता से वह बोली। मौत पर जैसे कि एक स्वाभाविक विश्वास हो गया है।

बोला महीम, "जुलाई का महीना था। चार दिन से लगातार पानी बरसता रहा। मेह रुकता ही नहीं था। सुना कि वह मर गई है। हम लोगों ने बरसाती ओढ़ी और अपने कंधों पर लादकर बुढ़िया को गंगा के किनारे पहुँचा दिया।"

यह भारी बात कहकर महीम ने फिर सिगरेट सुलगाई। रजो ने रोक थाम नहीं की। वह अब ज्यादा किसी बात पर नहीं कहती है। चुपचाप देख रही थी कि महीम सिगरेट के धुएँ के बीच बार-बार छुप जाता है। आज वह चिक की आड़ में कैसा परदा किये बैठी है। ठीक, यह महीम उसके जीवन के बीच एक अड़चन-सा है। उसे वह समीप या अपने समूचे दुःख को भूल जाना चाहती है। अपना हृदय उसके आगे वह खोलेगी नहीं। उसने उसे आज तक जितना सरल पाया है, आज अब वह वैसी नहीं है। पहले पहल पति के साथ मन में एक 'खिंचाव' उठने पर वह झगड़ा करती थी। अब वह भावुकता चूक गई

है। आज का जीवन निराश है। उसके हृदय में एक ताला पड़ गया है, जिसे महीम भी खोलने की क्षमता नहीं रखता है। अपनी बेबसी और घरेलू बातों को वह महीम तक से नहीं कह सकती है। सन्देह की भाँति एक उपहास वह उसके प्रति होगा। उसके सगे अब वे सब नहीं हैं। वह उनके लिए बिरानी है। उसके लिए वह दूर के हैं। उनका दावा इतना ही है कि वह उनके गाँव की लड़की है। वहीं पली और खेली। एक दिन समझदार होने पर जब वह उस गाँव से विदा हुई, तभी सारा नाता-रिश्ता उसी गाँव में बहते आँसुओं के साथ आई थी और इस घर में पहुँचते पहुँचते हृदय खाली हो चुका था। वहाँ पति ने जगह पाई।

रज्जो अनायास सवाल पूछ बैठी, "अब क्या करते हो?"

"कुछ भी नहीं। खाली हूँ।"

"बी० ए० पास कर लिया?"

"नहीं.....।"

"तब लगता है कि चाचाजी के नाम की परवाह तुमको नहीं। चार पैसा जब तक है, सब दोस्त हैं और फिर...।"

रज्जो की इस समझ पर वह क्या कहता। वह तो व्यवहार-कुशल थी। महीम का अपना अनुभव भी कुछ ऐसा ही है। दुनिया को वह बहुत कठोर और कठिन पाता है। इसीलिए चुप रहा।

"कहीं अच्छे रोजगार पर लग जाते, तब हमें भी कुछ उम्मीद होती। चारों ओर किसे अपना सहारा समझूँ। कुछ भी नहीं जान पड़ता।"

और महीम ने अपने मन-ही-मन इस बात की गाँठ बाँध ली कि अबके वह बी० ए० जरूर पास करेगा। इसके बिना उसे छुटकारा नहीं है। अपने खातिर नहीं तो रज्जो को उत्साहित करने को ही वह यह करेगा।

"बड़ा खराब जमाना आ गया है। अच्छे-बुरे खानदानों में कोई फर्क नहीं रह गया है।"

बस, रज्जो चुप हो गई। बड़ी-बूढ़ी की तरह बात पूछ, समझा-बुझा कर जैसे कि और ज्यादा कुछ नहीं कहेगी। महीम आँखें मूँद कर चुपचाप न-जाने क्या सोच ही रहा था।

"नींद आ रही है क्या।" रज्जो ने पूछा।

"नहीं-नहीं" महीम ने आँखें खोललीं।

"आराम कर लो। कल रात सफर में नींद नहीं आई होगी।"

"नहीं तो!"

"मेरी भी तबियत आज ठीक नहीं है।"

ठीक नहीं है।" महीम ने दुहराया।

"हाँ बीच-बीच में रोग बढ़ जाता है। अब जाओ, आराम कर लो।"

दिन को सोने की आदत भले ही महीम को नहीं थी। उस आज्ञा की अवहेलना वह नहीं कर सका। तकरार करना भूल जाता है। चुपचाप अपने कमरे में जाकर लेट गया। रज्जो की गृहस्थी में उसे कुछ कमी लगी। वहाँ जीवन नहीं था। सारे घर पर उदासी छाई हुई थी। जितना उसे ज्ञात था, व्यवस्था उससे अधिक बिगड़ी हुई मिली। रज्जो अपने मायकेवालों को चिट्ठी में कभी कुछ नहीं लिखती है। 'मैं भली हूँ' इतनी ही अपनी कुशल भेजना उसका अपनत्व था।

झपकी आने लगी। लेकिन पिंग-पिंग-पिंग! मच्छरों ने हमला कर दिया तो नींद उचट गई। अब कच्ची नींद की उदासी में महीम ने सोचा कि इसी रज्जो से वह एक दिन झगड़ा था। वह याद बार-बार उभरने लगी। तभी वह रज्जो पर सोचने लगा। स्मृति खुल गई, घटनाएँ बिखर गईं:—

उस दिन महीम 'पेस्टिल' से ड्राइंग बना रहा था। वह पौधा—हरी टहनी, नोकीली कुछ पीली पड़ी पत्तियाँ, फिर उस पर लिखा लाल-लाल

फूल। स्कूल की नुमायश में कागज पर बने इस फूल को सारी दुनिया देखेगी। महीम ने भी उसे अब दीवाल पर टाँग दिया और एक दर्शक की भाँति उसे देखकर मन-ही-मन खुश हो रहा था।

"भैय्या", रजो न जाने कब से यह तमाशा देख रही थी।

महीम झिझका, फिर कुछ देर तक रजो को निहारता ही रह गया। फूल से भी सुन्दर रजो थी। रजो फूल देख रही थी और महीम रजो को। अब रजो की आँखें फूल पर से उठकर महीम की आँखों में स्थिर हो गईं। सँभलकर बोल बैठी, 'अच्छा फूल बनाया है।'

'क्या ?' अनजाने में महीम पूछ बैठा।

'कब से यह बनाना सीख गये ?'

'क्या रजो ?'

'यह मुझे नहीं दोगे ?'

महीम क्या कहता, यह तो नुमायश के लिए उसने बनाया था। पन्द्रह दिन उसने मेहनत की और उत्साह से फूला नहीं समाता था कि बहुत-से लोग उसे देखेंगे। रजो उसी को माँग रही है। वह माँगकर क्या करेगी ? वह उसे नहीं दे सकता है। लेकिन वह रजो की पहली माँग थी। आज तक उसने कभी कुछ नहीं माँगा था। वह कभी कुछ नहीं कहती थी। महीम की बातों को मान्य गिन, स्वीकार कर लेना ही उसने तो सीखा था। वही जैसे कि उसका अपना कर्तव्य था। लेकिन आज·····।

'बोलो दोगे न', कहकर रजो दीवाल के पास पहुँच कर उस कागज को उतारने लगी।

'यह क्या ?' महीम उलझन में बोला।

'उतार दो।' रजो ने अनुरोध किया। कहती रही, 'कैसे तुमने इसे बनाया है।'

'रजो !'

'देखो मुझे दे दो।'

महीम असमंजस में पड़ गया। कुछ भी जवाब न दे सका।

'मैं पेटीकोट पर फूल काढ़ूँगी।' रज्जो ने पूरा सवाल हल किया।

तो, बेचारे महीम की इतने घंटों की मेहनत अब खेल बन जावेगी। सफेद दुसूती पर तक उसकी सीमा है। यह माँग तो अनुचित है। उसके मास्टर क्या कहेंगे। और जिन लड़कों के आगे वह डींग हाँक आया था। वह इन्कार कर देगा तो रज्जो क्या कहेगी? उसने भी अपने किसी अधिकार से फूल माँगा है। यह रज्जो जब से कुछ बड़ी हुई, महीम उससे बातें करते झेंप जाता है। यह झेंप कभी अवज्ञा बन जाना चाहती है। पिछले सालों तक तो रज्जो उसके पढ़ने की मेज पर किताबें इधर-उधर बखेर दिया करती थी। यदि वह कुछ कहता तब रोना ही उसने सीखा था। एक दिन जरा कुछ समझदार हुई। खुद भी किताबें पढ़ने की ठान कर उसके मेज के पासवाली मेज पर चुपचाप बैठकर पढ़ाई शुरू करदी। महीम फौरन् मास्टर बन बैठा। वह सिखलाता—कैट माने बिल्ली।

रज्जो कहती—क्येट म्याने बिल्ली।

वह सुधारते कहता—क्येट नहीं कैट।

रज्जो अपनी गलती पर हँस कर, उसी की तरह मुँह बना फिर कोशिश करती। कभी ऐसी शरारतों पर झल्लाकर वह उसके कान पकड़ कर सजा दे देता था।

'क्यों दोगे या नहीं।'

महीम ने बात तोलकर जवाब दे दिया, 'नुमायश के लिए बनाया है।'

'नुमायश! तब हमें नहीं चाहिए।" कह, झुँझलाकर रज्जो चली गई।

रज्जो फिर पास नहीं आई; झेंपा-हारा महीम भी कभी उसके आगे नहीं पड़ा। उसकी शादी हुई! वह दुलहिन की हैसियत से अपने पति के साथ ससुराल चली गई। वहाँ गृहस्थी में अपनी एक जगह उसने

बना ली। लेकिन रज्जो झगड़ कर गई थी। वह झगड़ा कहाँ मिटा था। रज्जो तो कहना चाहती थी—ओ' महीम, क्या पहले कुट्टी करके फिर हम मिट्ठी नहीं कर लिया करते थे। आज ही अब सयाने बनकर यह कैसा बरताव बरतना सीख गये हैं। हमारी अपनी 'अहमता' व्यर्थ आपस में रुकावट डाले हुए है। अपने मन में ही बात उमड़-घुमड़ कर रह जाती थी। बड़ी होकर जैसे कि उसे अब महीम को मानना नहीं था। वह चाहती थी, पर एक शील और लाज की वजह चुप रह जाती। वह कहीं अपराध साबित न हो जाय, एक भय दिल में अनायास उठता था। वह स्वाभाविक न भी हो, अचैतन्य उसके ऊपर अपना भार सौंप गया। अन्यथा कहीं और कुछ भी अड़चन नहीं थी। जब ही वह तर्क करती—यह रूठना गलत था। वह उससे माफी माँग लेता। तभी वह देखती थी कि 'झेंपू' महीम दूर-दूर भाग जाता है। पास-नजदीक आना वह छोड़ चुका है। फिर झगड़ा कैसे मिटता। वह किसी तरह का निपटारा न कर सका। जैसे कि सब कुछ असाध्य हो। रज्जो अपने जीवन में इस झगड़े की गाँठ बना चुपके ससुराल चली आई। वहाँ वह गाँठ फिर कभी ढीली नहीं पड़ी। वह चाहती थी कि चिट्ठी लिखकर माफी माँग लें। अपने में मन मारकर रह जाती थी। तभी पति आकर गाँठ को कड़ी-कर देता था। वह पति के पास ही रह जाती थी। सब और सारा झगड़ा दूर हट जाता। केवल बहाने ढूँढ़ लेने को उसे वक्त ही नहीं मिलता था।

महीम ने अपने उस व्यवहार के बाद जब एक दिन नुमायश में इनाम पाया, तभी उसे लगा कि रज्जो एक भारी चोट लगाकर चली गई है। वह घाव अब दुखने लग गया। वह क्या इलाज करता। घाव तो फिर दुखता-दुखता, दुखता ही रहा। उसे फिर भी विश्वास था कि एक दिन वह रज्जो को मना लेगा। जैसे कि रज्जो पर अभी उसका अपना अधिकार हो। जहाँ उसकी सरल पहुँच है। रज्जो के पति पर उसने अधिक विचार नहीं किया। फिर एक दिन वह बात कुछ धुँधली

घटना-मात्र रह गई। कुछ कभी उसे रज्जो की याद आती, तो वह उसे अपनी पहुँच से दूर पाता। वह अपने में सवाल करता कि रज्जो भी जरूर इस तरह बदल गई होगी। फिर सब कुछ भूल-भाल जाता था। उस झगड़े का निपटारा दूसरे, तीसरे और चौथे दिन से महीने पार कर गया था। रज्जो चली गई थी। साधारण व्यवस्था कर उसने निर्णय किया था कि कभी आगे जीवन में जब मिलेगी. तब ही सब और सारी बातें हल होंगी।

सात साल बाद जब उस रज्जो के घर पहुँचा तो कहीं भी झगड़े का चिह्न नहीं मिला। रज्जो ने तो उसी तरह दोनों हाथों से उसके पाँव छू लिए थे। दिल के घोसले में बैठा झगड़े का पालतू पक्षी स्वयं छुटकारा पा गया। वह उसी तरह उसको पहचानने लगी फिर भी कोई खास उत्साह उसमें नहीं मिला। वह तो रोज में रल गई थी। जिसे दैनिक जीवन कहते हैं। महीम रज्जो को यदि वैसी ही पुरानी समझता है, तो वह उसकी भूल थी। रज्जो वही थी। चेहरा कुछ फीका, शरीर दुबला और बातों में जीवन नहीं। कहीं हँसी नहीं, बचपनवाली शेखी भी नहीं थी। यह कैसा परिवर्तन था? जैसे वह परिवर्तन बार-बार पैने डंक महीम के हृदय पर मारने लगा। सात साल के छोटे-से अरसे में ही वह तो बड़ी-बूढ़ियों-जैसी बन गई थी। तोल-तोल कर बातें करना, ठीक और वक्त पर हँसना। सीधी और सही बातों का जवाब देना। जैसे उसने अपने जीवन का हिसाब रखना शुरू कर दिया हो।

विचारों की ऊबड़-खाबड़ घटनाओं के बीच न जाने कब उसे नींद ने धोखा दे दिया था।

"क्या सोये हो?" रज्जो ने आकर जगाया।

महीम ने आँखें खोलीं। रज्जो ने हुक्का जमीन पर रख दिया। और हँसकर बोला महीम, "इस तरह तो आदत पड़ने की नहीं है।"

"भाभी को सब सिखला दूँगी।" रज्जो हल्के मुस्कराई।

"सिगरेट तो शौकिया पीता हूँ। खाली वक्त इससे सहज ही कट जाता है।"

"पुराने लोग नहीं पीते थे तो उनकी भी निभती ही थी।"

"आज नया जमाना आ गया है।"

"चाय तो नहीं पीते हो।" रज्जो ने पूछा।

घर के आदमी को वह मेहमान नहीं मानेगी। वह उससे साधारण व्यवहार क्यों बरते।

"पीता हूँ, लेकिन खास जरूरत नहीं है।"

"बना लाती हूँ।" कहकर रज्जो जाने को थी कि महीम ने टोकते हुए कहा, "तबीयत क्यों बेकार खराब करती हो। मुझे नहीं चाहिए।"

"तबीयत.....!" रज्जो आगे नहीं बोली। महीम को तो आज भी उसके सुविधा-असुविधा का ख्याल है। उसकी तबीयत की फिक्र है। और बात पीकर बोली, "भाग्य में जो लिखा है, वह नहीं मिटता। तब भला इन बातों से क्या होता है।" और चुपचाप चली गई।

अब यह रज्जो सब बातें जानती है कि कब क्या जरूरत है। सारी व्यवस्था सीख गई है। घर पर कब-कब उसे काम से वास्ता ही पड़ा था। बचपन की वह सारी तुनुकमिजाजी कहाँ चली गई है। लाड़-प्यार में पली थी। कब इसने सोचा होगा कि यह सब एक दिन उसे निभाना पड़ेगा। आज कहीं भी अपने को अनजान साबित नहीं होने देती है। पहले जरा रूठ जाती थी, तो घर भर खुशामद करता था और आज?

उस रज्जो के आगे बार-बार झुक कर वह पूछना चाहता था—तुम इतना यह सब कैसे सीख गई हो। आज अब मैंने तुमको सही पहचाना है। तुम इन सात बरसों में जीवन का सही इम्तहान पास कर लोगी, वह मेरी बुद्धि से बाहर की बात थी।

रज्जो तो धोती के छोर से चाय का भरा गिलास पकड़ कर ले आई। बोली, "रूमाल निकाल लो, गिलास गरम है।"

महीम ने जेब से रूमाल निकाल, गिलास ले लिया। चुपचाप एक घूँट पीने की चेष्टा की और फिर गिलास जमीन पर रख दिया।

"बहुत गरम होगा।" कह, रजो उठी भीतर से पत्थर की 'कुंडी' ले आई। हँसकर सौंपते हुए बोली, "प्याला तो है नहीं।" अपनी असमर्थता को भी उसने मजाक के बीच छुपा लिया। यह इतना ही कहा, जैसे अपनी गृहस्थी के प्रति अधिक व्यंग वह नहीं करना चाहती हो।

"तुम चाय नहीं पीतीं।"

"गरम, ठंडा कुछ भी माफिक नहीं पड़ता है।" रजो ने कहा ।

महीम सुनकर चुप हो गया। यह रजो कितनी निर्जीव हो गई है। यह आशा कदापि उसे नहीं थी। आगे जब उसे देखता है, तो जीवन से निराश हो बैठता है। दुनिया के दुःख की छानबीन करने लगता है।

फिर रजो ने छेड़ने बात शुरू की, "जाड़ों में तो मुझे आना ही है, चाहे बुलाओगे, या नहीं।" हँस पड़ी।

उस हँसी के बीच महीम ने आखिरी बड़ी घूँट चाय की पीकर गिलास जमीन पर रखते हुए कहा, "मना कौन करता है।"

"कुछ और न सही, तुम्हारी बहू को देखने तो आऊँगी ही।"

महीम की शादी को आड़ बनाकर ही रजो कुछ जरा कुतूहल पाती है। जैसे वह बंधन भी एक खेल हो और अपनी ही उसकी वह बाजी भी हो। महीम भला इस सब का क्या जवाब दे। तब मौका पाकर वह बोल बैठी, "देखना है कि वह कितनी सुन्दर है। दुनिया भर की लड़कियों पर तो नुक्श निकाला करते थे।"

महीम अपनी लाचारी को साबित कर, सब कुछ सुझा कर कह देना चाहता था—वह तुझ जैसी नहीं है। लेकिन मन में ही बात पी गया।

भला रजो चुप रहती, "सुमित्रा ने तो खूब तारीफ लिखी है। कुछ पढ़ी लिखी भी है।"

महीम के पास कोई उत्तर नहीं था।

'अपनी तुम्हारी छाँट है। कहीं पूरी मेम तो नहीं है।" रजो खिल-खिलाई।

महीम ने शादी की स्वीकृति देकर, फिर उस लड़की पर अधिक सोचना-विचारना छोड़ दिया था। वह तो होनहार है, जिस पर वह कोई राय नहीं देगा। रजो उसे 'मेम' साबित करने तुली है। वह उसके जीवन से आगे एक दिन आ लगेगी, पर उस अनजान को वह रजो से अधिक नहीं पहचानता है। उसकी बाहरी चटक-मटक ही उसने देखी है। भीतर विचारों की गहराई का अनुमान उसे नहीं है। माँ एक बहू चाहती थी। छोटे भाई एक भाभी। इधर-उधर पास-पड़ोस के लोग मिठाई खाना चाहते थे। तो उसे ही कोई एतराज क्यों होता। रजो के उत्साह को उभारता हुआ वह बोला, "तुमने तो छाँटने का वायदा किया था। अब माँ की छाँट है। मैं तो किसी को कभी मना थोड़े ही करता हूँ।"

रजा कुछ शरमा गई। उस बात से उसे अब कुछ भी सरोकार नहीं है। वह भली भाँति जानती थी कि महीम गाँव की सब लड़कियों में उसे भला मानता था। जब कभी वह ककड़ी, आम, अमरूद और मटर की चोरी करने को जाता था तो चुपके उसको कान में सारी बातें समझा दिया करता था। उसे यह विश्वास और किसी पर नहीं था। खेल में भी हमेशा वह रजो को अपनी ओर चुन लेता था। रजो की रक्षा तभी से करनी उसे मंजूर थी। महीम के कारण चाची भी उसे प्यार करती थीं। उस घर में उसका मान था। महीम के साथ-साथ अक्सर उसे मिठाई खाने को मिल जाती थी। आम की फस्ल में महीम आम चूसता कहता—मीठा है। रजो अनुरोध करती—मुझे भी दे दो। महीम बोलता—नहीं मिलेगा। रजो कह देती—हम कल खेलने नहीं

आवेंगी। बचपन से रज्जो धमकी देना सीखी थी और उसके स्वभाव से भी परिचित थी।

रज्जो ने अब अपने पर कटाक्ष किया, "इस लायक होती तो ?"

"रज्जो !" महीम आँखें उठाकर बोल बैठा !

रज्जो की समझ में जरा भी बात नहीं आई। फिर वह सँभली, याद आया कि अभी तो तरकारी काटनी है। वे आते होवेंगे। चुपचाप रसोई की ओर खिसक गई। महीम बैठा ही रहा। न जाने क्या-क्या विचार मन में आए-गए। आखिर पुकारा, "रज्जो।"

"हूँ।" रज्जो ने चौके से जवाब दिया।

उठकर, वहाँ पहुँच वह बोला, "एक बात है।"

"क्या ?" कुतूहल से रज्जो ने आँखें ऊपर उठालीं।

"तेरे लिये ऊन और बहुत सी चीजे लाया हूँ।"

"ऊन ! क्या करूँगी मैं। यहाँ तो सिलना-बुनना कुछ नहीं होता है।" फिर कुछ सोच कर कहने लगी, "रख लूँगी। अब फिर बुना करूँगी। लेकिन सीकें...।"

"सींके नहीं हैं क्या ?"

"तीन-चार साल से बुनना छूटा हुआ है। जब से बीमार पड़ी कुछ काम नहीं होता है। ढूँढ़ूँगी शायद सन्दूक में पड़ी हों, लेकिन नए 'डिजाइन' तो मुझे मालूम ही नहीं हैं।"

"किताबें साथ लाया हूँ।"

"अब सीखने की उम्र कहाँ है। जैसा आता है बुनकर भेज दूँगी। पाँच-छे महीने लगेंगे।"

अब तो महीम अन्दर पहुँच कर साड़ी व और चीजें ले लाया। साड़ी देकर रज्जो बोली, "बेकार इसमें दाम खर्च किए। इसे पहिनकर कहाँ जाऊगी। मेरी ओर से सुमित्रा को दे देना।"

महीम चुपचाप रज्जो को देखता-देखता ही रह गया।

"इसमें नाराजी की बात नहीं है। यहाँ का पहनावा मोटा-सोटा है। इसके बदले मोटी धोतियाँ भेज देना।"

जब लटकन का डिब्बा महीम ने खोला, तो वह हँसने लगी, कहा ही, "तो अपनी शादी की बिदाई का सामान यहीं ले आए हो कि कौन बुलावेगा?"

लेकिन एक और भी चीज महीम ने दी। वह वही कागज पर बना फूल था। वह बोला "इस पर इनाम मिला था।"

"खुशी की बात है।"

"अब तुझे देने लाया हूँ।"

"मैं क्या करूँगी। भाभी को देना।"

"भाभी को?"

"भला मुझे कौन सा हक है।"

"हक?"

"नहीं तो क्या सात साल में एक चिट्ठी का टुकड़ा भी न डालते।"

"रज्जो?"

"दुनिया स्वार्थी है। माँ और चाची ने जोर किया होगा, तब आज लिवाने आये हो। मैं वहाँ जाकर ही क्या करूँगी। इस गृहस्थी में जब एक दिन आई हूँ, तब कुछ दिन और जीकर अपना कर्तव्य निभा लूँ।"

बात न पकड़ कर महीम बोला, "कुछ दिनों को वहाँ चली चलो।"

और देखा उसने, रज्जो का दुःख उमड़ चुका है। टप-टप-टप आँसू बह रहे थे। वह समझदार नारी जो जीवन में सही और गलत स्थिति की पूरी-पूरी पहचान रखती है, अब बच्चों की तरह सिसक-सिसक कर रो रही थी।

"साथ तुम चली चलो रज्जो।" कहा ही महीम ने।

लेकिन रज्जो ने आँसू पोंछ लिए थे। वह चुपचाप तरकारी काट रही थी। कुछ देर बाद एकाएक उठी और बोली, "तुम खड़े ही हो। मोढ़ा ले आऊँ।" मन्थर गति से चली गई।

महीम मना तक नहीं कर सका। वह कैसे कहता! रज्जो तो मोढ़ा ले आई थी। यह लड़की बचपन में कब-कब उसके आगे नहीं रोई। तब इतना चीखती थी कि सारा मोहल्ला सिर पर उठा लेती थी। आज भी वह रोना जानती है। अब वह स्वयं अपने पर हथियार चला लेती है। रोकर पीड़ा बिसारना ही अब सीखा है।

अब रज्जो रसोई में तरकारी छौंक रही थी। चुपके महीम बाहर चला आया। इधर-उधर टहलता रहा।

साँझ को रज्जो का स्वामी लौट आया। दोनों चुपचाप खाना खाने बैठ गए। रज्जो सावधानी से परोस रही थी। महीम ने उनसे पूछा, "बहुत काम रहता है क्या?"

"कुछ न पूछिए बैंक की ही नौकरी ठहरी।"

तभी मौका पा रज्जो बोली, "बुलाने आए हैं। जैसे कि मैं एक मिनट में ही तैयार होकर चली जाऊँगी।"

"कुछ दिनों को चली न जाओ। हवा बदल जावेगी।" पति बोले।

"अभी तो जाना नहीं हो सकता है। जाड़ों में देखी जावेगी।"

महीम चुप रहा। वह खाना खा रहा था कि रज्जो रोटी थाली में डालने लगी। वह बोला, "नहीं-नहीं।"

तो बोली रज्जो, "यहाँ का खाना अच्छा क्यों लगने लगा। ठीक तरह तरकारी भी यहाँ थोड़े ही मिलती हैं।"

महीम खाता ही रहा।

खा पीकर महीम ने रज्जो के स्वामी से कहा, "रात की गाड़ी से जाने में सुभीता रहेगा।"

"आज ही।"

"रज्जो तो चलती नहीं है। उधर मुझे भी कई काम हैं।"

वे कुछ भी नहीं बोले। महीम कमरे में जाकर अपना 'हॉल-डॉल' बाँधने लग गया।

अब पति रसोई में आकर बोले, "महीम बाबू जा रहे हैं।"

"आज ही!"

"हाँ.....।"

आधे खाने से ही रज्जो उठी। हाथ धो डाला महीम के आगे खड़े होकर सवाल पूछा, "क्या आज सच ही जा रहे हो?"

"हाँ", कह महीम ने 'हॉल-डॉल' पूरा बाँध लिया।

"इस तरह जल्दी क्या है?"

"....."

"मुझ से गुस्सा हो।"

"....."

"मैं उनको इस तरह छोड़कर कैसे आ सकती हूँ। यहाँ का इन्तजाम ठीक करना है। मायके जाना भला कौन नहीं चाहेगा।"

"जब तुम्हारी मर्जी हो, तब तुम आना। भला हमारा अधिकार ही क्या है।"

"अधिकार?"

"नहीं रजा वहाँ भी कई काम पड़े हैं।"

"सोचा था दो-चार दिन रहोगे।"

महीम चुप!

"जाओ, पर कभी-कभी कुशल भेजते रहना।"

महीम चला आया। रज्जो को उस रात्रि भारी ज्वर रहा।

आखिरी—स्केच

"मुझे '——' होटल जाना है।"

" '——' होटल !" विनोद अचकचाकर बोला।

"हाँ, वहाँ पुष्पा अपने पिता के साथ आई है।"

"पुष्पा.....! सुना रज्जन भी तो वहीं रहता है।"

पुष्पा ! रज्जन !!"

"उसे देख आना और कुछ पता लगे तो अच्छा ही है।"

मैं बाहर आया और चुपचाप उनके होटल की ओर चल पड़ा। पुष्पा का ध्यान आज अधिक था। मैंने पुष्पा को पिछले कुछ सालों से नहीं देखा था। जरा उसकी याद आती, पर वह बेकार थी। अब वह कुछ और हो गयी होगी—ऐसा विश्वास था। विश्वास..... ! वैसे पुष्पा, नहीं पुष्पा नाम भले ही पुराना हो—पुष्पा पुरानी नहीं होगी। समय के साथ एक भारी अन्तर उसमें आ गया होगा। बहुत दूर खड़ी पुष्पा का खाका टटोलकर भी कुछ समझ में नहीं आता था। अब वह अधिक दूर लगती थी—वह युवती होगी। उसी युवती पुष्पा पर सोचता-सोचता आगे बढ़ रहा था। भले ही वह बिलकुल समीप लगी खड़ी न थी, फिर भी उसे देखने का एक नया उत्साह था, उम्मेद थी। आज की पुष्पा का वास्तविक रूप दिमाग में था; जहाँ पिछली रूप-रेखा इतनी धुँधली पड़ गयी थी कि गौण में गिन अथवा मान लेने को दिल राजी नहीं था। हृदय में एक नयी भावना थी। सजी-सजायी, सजीव, ज्ञेय और पूर्ण—मैं पुष्पा हूँ। मैं ही हूँ वह, अब खयाली बातें दूर करो। मुझे पहचान और समझ लो। मैं तुमसे दूर कब थी।

पुष्पा से वास्ता पड़ा था। कुल साल पुरानी बात है। आज वह भूली सी लगती है। कुछ चुटकियों के अलावा कुछ भी पास नहीं था।

कि होटल पहुँचा। कमरे के बाहर से देखा पुष्पा 'सोफा' पर बैठी किसी अंगरेजी की पुस्तक से उलझी थी।

बाहर खड़ा का खड़ा, ठिठका सा रह गया। पुष्पा वही पुरानी थी। पर कुछ बड़ी, कुछ खिली और लगती थी सुन्दर भी। वही थी पुष्पा, जिस पर राह-भर गुनगुनाता रहा था। 'गुन-गुन'—एक मनबुझाव, हृदय का सन्तोष! और उस 'गुन-गुन' में अपने को ढूँढ़ लेना चाहता था—ढूँढ़ लेना! लगा था कि सुबह को, पुष्पा के पिता का पत्र पाकर कहीं कुछ कमी आ गई है, कुछ खो गया था, और वह.....

फिर पुष्पा को देखा—वह तन्मय हो पुस्तक पढ़ रही थी। उसकी नीली-नीली साड़ी देखी, ठोड़ी और एकाग्रता से पढ़ती आँखें। उसका सारा व्यक्तित्व समेटकर अपने से लगा लिया। वह तो कहाँ थी अपने से बाहर, अपने में डूबी थी, वहीं रही!

अब मैं जरा साहस कर बोला, "क्या अन्दर आ सकता हूँ?"

पुष्पा का ध्यान बँटा। वह खड़ी हो कर सपसपाती हुई बोली "तुम.....!"

"फिर खड़ी ही रही। कोई आगे नहीं बढ़ सका।

मैंने आँखों से कमरे को इधर-उधर टटोल कर पूछा—"पिताजी कहाँ हैं?"

पुष्पा सँभलती हुई बोली, "वे बड़ी देर तक आपका इन्तजार कर आखिर घूमने चले गये हैं।"

पुष्पा खड़ी की खड़ी थी, और मैं?

पुष्पा बोली. "बैठिये।"

मैं चुपचाप बैठ गया।

कैसे बातें शुरू की जावें, कुछ समझ में नहीं आया। काफी देर के बाद पूछा. "आप लोग कब तक यहाँ रहेंगे।"

"यह तो डाक्टर की राय पर निर्भर है। पिताजी का स्वास्थ्य पिछले साल से ठीक नहीं है।"

इसी बीच मैंने देखा कि रज्जन बाहर की ओर चुपचाप चला जा रहा है। पुकारा, "रज्जन, रज्जन ?"

उठकर बाहर गया। देखा, रज्जन आगे निकल गया है। इधर-उधर कहीं भी दिखलाई नहीं दिया। शायद उसने आवाज नहीं सुनी।

कमरे में लौटा ही था कि पुष्पा ने पूछा, "क्या आप रज्जन को जानते हैं ?"

"रज्जन को ?"

"हाँ, अजीब आदमी है। पिछले साल हम मसूरी गये थे, तब वह भी हमारेवाले ही होटल में टिका था और अब के.....।" पुष्पा के कहने में उपेक्षा का भाव था, मानो कि रज्जन पर उसकी कोई श्रद्धा नहीं है।

मैंने बातें सुधारते कहा, "रज्जन को मैं खुद ठीक सा नहीं जानता हूँ। वैसे वह हमारा साथी है। भले ही हम उसके बारे में अधिक न जानते हों, फिर भी साथ-साथ रहते हैं। उसके बारे में हम जानना जरूरी नहीं समझते हैं। 'हिल स्टेशन' के दोस्तों की 'लिस्ट' बनाना, रेल के डिब्बे में बैठे मुसाफिरों को गिनने से अधिक बेवकूफी की बात नहीं है। जिन्दगी को बेकार एक और बोझे से बाँधना व्यर्थ लगता है।

पुष्पा चुप रही।

—सच बात यह थी कि रज्जन के बारे में हम कुछ नहीं जानते थे। वह हमारे नजदीक आया और एक दिन हमने महसूस किया कि वह हममें मिल गया है।

रज्जन कौन है, कहाँ रहता है, क्या करता है—यह कोई नहीं जानता है। किसी को जान लेने की फुरसत नहीं है। हाँ, रोज सन्ध्या को वह मिल जाता है। रात तक सब साथ रहते हैं। उसके चले जाने के बाद, बड़ी देर उसी की बातों को दुहराते और उन पर ही सोचते हुए हम रह जाते हैं।

'हिल-स्टेशन' के उस जीवन में, हमारे बीच रजन का मुख्य स्थान था। अन्यथा निरुद्देश्य सड़कों पर घूमने, चिलगोजों, साड़ियों और जम्परों को घूरने व उनके सौन्दर्य की व्याख्या कर, बड़ा वक्त गँवा देने के हम आदी थे। दिन-भर थक जाने के बाद यही काम बाकी रह जाता था।

रजन को 'ब्रिज' खूब आता है। साथ ही वह 'स्केच' भी खूबी से बनाता है। उसका कहना है कि 'ब्रिज' और स्केच—पेन्सिल की रेखाओं के जाल से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'ब्रिज' के खेल को वह अपनी जिन्दगी से तोलता हुआ कहता कि 'ब्लफ' कर कई सफल हुए, कई अपनी निम्नता से हार जाते हैं। 'ब्रिज फिलासफी' को जीवन पर लागू करने से मनुष्य सावधानी से चलना सीख जाता है। से ईही वह 'जिन्दा-फिलासफी' गिनता है। अक्सर वह 'ब्रिज' पर मोटी-मोटी किताबें पढ़ता है। 'स्केच बुक' और मोटी-मोटी पेन्सिलें भी जेब में हर वक्त रहती हैं।

रजन जवान है, सुन्दर है और हमेशा 'टिपटो' सिगार मुँह में लगाये हुए रहता है। 'सूट' के साथ अलग-अलग डिजाइन की टाइयों और जूतों का उसे पूरा खयाल रहता है।

उस दिन सन्ध्या को रजन ने आते ही कहा, "आप लोग मुझे माफ करेंगे। आज मैं आप सबको '—' रेस्तराँ में चाय पीने का न्योता देता हूँ। भले ही एकाएक यह खयाल मुझे आया, मुझे विश्वास है कि आप मना नहीं करेंगे। चलिये, सब सामान तैयार है।"

किसी ने आनाकानी नहीं की। सब लोग चुपचाप उसके साथ हो लिये।

राह-भर वह किसी से नहीं बोला। कोई बातें नहीं हुईं। वह लापरवाही से चल रहा था। लगता था कि अपने से झगड़ रहा हो। वह थका दीखता था। गम्भीर था। बातों का अधूरा सा उत्तर देता था। उसके 'मूड' से सब आश्चर्य में थे। चुपचाप ही सब आगे बढ़े।

'रेस्तराँ' की कुर्सियों पर बैठ खूब चाय उड़ने लगी। बार-बार बीच-बीच में रञ्जन की ऊँची आवाज सुन पड़ती थी :—"ब्वाँय 'मटन चॉप', सामी..."

सब चाय पीने में लगे थे। रञ्जन ने दूसरा प्याला चाय का समाप्त कर कहा, "सुनिये, मैं आज आप लोगों को एक नयी बात सुनाने लाया हूँ। आप उस पर विश्वास करें, न करें। मेरी हँसी ही उड़ावें—इससे भी मुझे एतराज नहीं। अविश्वास की सत्यता में ही विश्वास है। जिसे हम अविश्वास गिनते हैं, वही हमारा विश्वास है। अपने विश्वास को तो दूर नहीं हटाया जा सकता है। मैं तो भावुकता को भी नहीं मानता हूँ। उस पर टिकना नहीं चाहता, फिर भी मैं उससे अलग नहीं। अलग सा रहकर भी साथ हूँ। यही उलझन, समस्या और पहेली हमारी पूर्णता है।"

सब लोगों ने रञ्जन की ओर देखा। मानो कि इतना कह देना एक नयी बात हो। वह दलीलों और तर्क का आदी नहीं था।

रञ्जन कहता रहा, "कल रात मैंने एक स्वप्न देखा। एक आदमी लम्बा चोगा पहिने, काली दाढ़ी, अन्दर घुसी पीली-पीली आँखें थीं उसकी—वह मेरे पास आया। उसने मुझे सावधानी से खूब घूर कर देखा। वह मुझे पहचान-सा रहा था। फिर वह हँस पड़ा। मानो कि वह कुछ पा गया हो। तब उसने अपने हाथ में मेरा हाथ ले लिया। उसके हाथ में निरी हड्डियाँ ही थीं। मुझे एक पुस्तक दी जिसमें कई 'स्केच' थे।

"मैंने पहला 'स्केच' देखा : मजदूरिन मर रही थी। उसके नजदीक कोई नहीं था। मक्खियाँ चारों ओर भिन-भिना रही थीं। उसका बच्चा दूध पी रहा था...

"दूसरा : एक युवती बैठी अपने प्रेमी की बाट जोह रही थी। उसकी आँखों में उत्सुकता थी.....

तीसरा : एक युवती अपने स्वामी से झगड़ रही थी। पति-पत्नी

दोनों की आँखों से घृणा टपक रही थी। जैसे विश्वास का पवित्र सूत्र टूट चुका हो...

"चौथा : बच्चा मर रहा था। माँ प्रेमी को पत्र लिखने में संलग्न थी।

पाँचवाँ, छठा, सातवाँ.....

हाँ, ग्यारहवाँ : सड़क के किनारे भिखारिन मरी पड़ी हुई थी। छोटे-छोटे बच्चे उसके ढेले मारते, अपना खेल खेल रहे थे।

"बारह, तेरह, चौदह.....

"इक्कीसवाँ : पति को प्रेमी ने मार डाला था। युवती पति की लाश को कुचलती हुई प्रेमी के पकड़े जाने पर दुखी थी।

"एक-एक स्केच दिल पर प्रभाव डालता था। मनुष्यता, दुनिया और सभ्यता का नग्न चित्रण उनमें था। और आखिरी 'स्केच'— मैं काँप उठा, डर गया! मेरी नींद खुल गयी। देखा, दाहिना हाथ छाती पर पड़ा हुआ था।

"मैं पसीने से लथपथ भीग गया था...।" कह रज्जन चुप हो गया।

विनोद को अपने मनोविज्ञान का घमंड था, बस पूछ बैठा, "बारी-बारी से सब स्केच देखे थे?"

"हाँ, एक, दो, तीन, चार करके..."

"और आखिरी स्केच को थोड़ा सा देखकर ही अलबम बन्द कर दिया था न?"

हाँ...। आपने यह कैसे समझा?"

"कोई खास बात नहीं। आपकी इच्छा थी कि आप उसे भली-भाँति देख सकते और अभी भी कुछ और भूख उस 'स्केच' को देखने की होगी।"

"भूख...! नहीं, भूख नहीं है। वैसे शायद अब मैं उसे पूरा देख सकने की सामर्थ्य रखता हूँ।"

चाय पीकर विनोद के साथ बाहर निकला और अपने होटल की ओर बढ़ गया। विनोद और मैं एक ही होटल में रहते हैं। विनोद मुझसे पहले आया था। मैं बोला, "बिलकुल नया स्वप्न है। कुछ तुम्हारी समझ में भी आया ?"

"मुझे वैसे कुछ नया नहीं लगा। हाँ, साफ-साफ उस पर अपनी कोई राय आज न दे सकूँगा। स्वयं अभी मुझे कुछ अड़चनें लगीं। रज्जन को मैं खूब समझ गया हूँ। एक एक बात आज तक की मैंने पढ़ी और सोची-समझी। उसके चले जाने पर मेरा बहुत सा समय उसकी बातों और विचारों को सुलझाने में लग जाता है।"

"स्वप्न तो विचित्र है ?"

"विचित्र...! उसका मस्तिष्क जो न देखे, कम ही है। वह कभी कुछ और भी सुना सकता है। कल कौन जाने क्या नयी बात हम उससे सुनें !"

—"आप चाय पियेंगे ?" पुष्पा बोली।

मैंने पुष्पा को देखा। रज्जन उसके आगे फीका और नीरस लगा। मैंने कहा, "अभी चाय पीकर ही आया हूँ।"

पुष्पा घण्टी बजाती पुकार बैठी. "ब्वॉय ! ब्वॉय !!"

कि मैंने टोका, "तकल्लुफी का सवाल नहीं है। सच ही मैंने चाय पी ली है। आखिर आपके आगे अपने भूखे रहने की शिकायत करते मुझे कोई शरम तो है नहीं।"

"यह तो बहाना है।" पुष्पा ने बात काटी, "उस दिन याद है, न हमारे यहाँ से आप खाकर गये थे, न 'हॉस्टल' में ही खाना मिला था।"

"यह बात किसने कही ?"

"पिताजी ने।" और पुष्पा चुप हो गयी।

कि मैं बोला, "यदि यही बात है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

पुष्पा खिलखिलायी, कहा, "मन की बात आखिर निकल गयी न !"

वह उठकर आलमारी से एक तश्तरी में मिठाई लगा लायी, दूसरी

में नमकीन और बड़ी प्लेट पर फल। सब लाकर बोली, "आप सिगरेट तो नहीं पीते हैं?"

"क्या अब यही पूछने को बाकी रह गया पुष्पा!"

पुष्पा नाम सुनकर जरा ठहरी और फिर आगे बढ़कर आलमारी से 'गोल्ड फ़्लेक' का 'टिन' निकाल लायी। वह तो पास कुरसी पर बैठ गई।

"तूने तो फिर चिट्ठी भी नहीं भेजी।"

"चिट्ठी! मुझे पता कहाँ मालूम था और वादा करके तो आप गये थे।"

कौन कसूरवार है। मैं खूब जानता था कि अपने स्वभाव की वजह से मुझे उसे पत्र लिखने का साहस नहीं हुआ था। बोला, "तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन मैंने सोचा कि शायद तुम जवाब न दो।"

"जवाब! सिर्फ बहाना ही बनाओगे। यों कहो भूल गया। चिट्ठी लिखनी नहीं चाही।"

फिर दोनों चुप रह गये। मैं पुष्पा को देख रहा था और वह फर्श की दरी के चारखाने गिन रही थी।

उसने आँखें उठायीं, बोली—"खाओ।"

"और तू!"

मानो ऐसा ही कुछ वह सुनना चाहती थी, जिसमें निरा अपनत्व हो। कहीं बन्धन और व्यावहारिक सीमा न लाँघनी पड़े। यह इतनी समीपता जीवन को पूरित कर मुझे सुलझा देती! लगता था कि यह कोरा खेल नहीं। यहाँ कुछ और भी छुपा है, जो.....

वह अनमने भाव में बोली, "आप खावें। मैं अभी-अभी खा चुकी हूँ।"

"वैसे मुझे भी भूख नहीं है।"

और पुष्पा ने सेब उठाया, चाकू से काटकर खाने लगी।

मैं बोला, "पुष्पा', तब हमारा इतना घनिष्ट परिचय नहीं था। मुझे

यह ज्ञात न था कि तुम्हें चिट्ठी न मिलने पर दुःख होगा।"

"छोड़ो भी उस बात को।" मैंने देखा कि पुष्पा में अब एक ऐसी सामर्थ्य है कि वह हुक्म भी दे सकती है, जो टाला नहीं जा सकता।

"उसके लिए माफी!"

"आप मुझे अधिक लाचार न करें।" पुष्पा ने बात काटी और चुपचाप सेब का टुकड़ा दाँतों से दबा लिया।

कि रजनन कमरे में आया। पुष्पा उसे देख सहम-सी गयी।

"आखिर रजनन तुम्हारे होटल का पता देखो हमने लगा लिया।" मैं बोला।

रजनन चुपचाप पुष्पा को देख रहा था। उसकी आँखें पुष्पा पर टिकी थीं।

मैंने रजनन को देखा। पुष्पा कह कर, बाहर चली गई, "आप लोग खावें, मैं अभी-अभी आती हूँ।"

हमने जाती हुई पुष्पा को देखा। रजनन अभी खड़ा का खड़ा ही था।

"बैठो, कुछ खा लो।" मैं बोला।

मैं चाह रहा था कि रजनन से आज कुछ खुलकर बातें करूँ। जहाँ रजनन छुपकर रहता है, वही भेद मैं जान लेना चाहता था।

लेकिन रजनन भी हाथ मिला, कह कर चला गया, "माफ करना।"

रजनन का यह व्यवहार कोई नया न था। उसके सब साथी यह भुगतकर अब कुछ खयाल नहीं करते हैं। हाँ, आज उसने लापरवाही से कमीज और मैली पैण्ट पहनी थी, जो नयी बात थी।

पुष्पा न जाने कब कमरे में आ गयी और बोली, "आपने तो अभी तक कुछ नहीं खाया है। पिताजी लौट आये हैं। अभी-अभी मैंने टीले से देखा है।"

"रज्जन उसी समय चला चला गया, कुछ खाया-पिया नहीं।"

अब पुष्पा बोली, "उसका कुछ काम नहीं। कभी-कभी बड़ी रात तक वायलेन बजाता रहता है या फिर सुबह टीले पर बैठकर, चट्टानों पर कोयले से 'स्केच' बनाता हुआ मिलेगा। होटल के नौकर परेशान हैं। आधी-आधी रात वायलेन के तार टूट जाने या पेन्सिल निबट जाने पर वे बाज़ार दौड़ाये जाते हैं।"

पुष्पा के पिता आ पहुँचे। बात यहीं पर रुक गई।

कुछ दिन बाद संध्या को हम ब्रिज खेल रहे थे। विनोद, मैं, पुष्पा और उसके पिता थे। आसपास की कुर्सियों पर और होटल के लोग बैठे थे। रज्जन आ पहुँचा।

विनोद रज्जन को आते हुए देखकर बोला, "तुम आ गये। भाई, हम तो तुम्हारे खेल के कायल हैं। अभी-अभी तुम्हारा ही ज़िक्र था। आजकल कहाँ रहते हो?"

पुष्पा ने रज्जन के लिए पहले ही जगह खाली कर दी थी। वह बाहर चली गयी। रज्जन बैठ गया।

आज रज्जन खूब सावधानी से खेल रहा था, मानो कि अपनी सैद्धान्तिक बात 'ब्रिज फिलासफ़ी' से भिड़ रहा हो। खूब सोचकर एक पत्ते को चलता, फिर भी हार रहा था। उसके चेहरे पर एक नया भाव था, शायद अपनी इस हार से वह उदासीन था। पहला 'रबर' कोशिश कर भी वह जीता नहीं और दूसरा भी हार रहा था; वह कुछ खिन्न व भारी थका हुआ लगा।

खेल पर मन न लगने से मैं 'कार्ड' अपने साथी को सौंप कर चुपचाप बाहर निकल आया।

सीढ़ियों को पार करता हुआ पुष्पा के कमरे के दरवाजे पर रुक पड़ा, दरवाजा अधढका था। अन्दर अन्धकार था। दरवाजा खोल कर पुकारा, 'पुष्पा!" और फिर भीतर जाकर स्विच दबाया।

देखा पुष्पा सोफा पर हाथ के सहारे सिर धरे, लेटी हुई सो रही थी।

पास जाकर पुष्पा को देखा—वह चुपचाप सोयी थी। इधर-उधर कागज फटे पड़े थे। पुष्पा की पलकें कुछ भीगी लगी। साथ ही उसके चेहरे से लगता था कि वह खूब रोयी है। पुष्पा को! बात का कहीं कूल किनारा नहीं मिला। पुष्पा, पुष्पा की आँखें और विद्युत् के प्रकाश में फैले काले-काले गुच्छों में उलझे हुए बाल! पुष्पा का एक अपार सौन्दर्य सम्मुख बिखरा था। वही पुष्पा, जिसे बार-बार पुकारने को चाहना को दिल में मसोसकर समा रहा था। एक सम्भव बात का निपटारा उससे चाहता था।

पुष्पा की बायें हाथ की उँगलियों में एक कागज था। उसे सावधानी से निकालकर देखा। एक 'स्केच'। 'स्केच': पुष्पा बकरी के बच्चे का कान पकड़े थी। और बच्चा छुटकारा चाहता था? अपनी कोशिश की असफलता से इधर-उधर देख रहा था। और पुष्पा उसकी स्वतन्त्रता को क्यों छीने ले रही थी?

आँखें पुष्पा पर अटकीं—सोयी पुष्पा और बकरेवाली पुष्पा! दोनों के बीच एक भारी खाई लगती थी। वही उसकी 'भावना' थी।

स्केचवाली पुष्पा का वह खेल? कागज पर काला 'बैक ग्राउण्ड', सँवारी उस पर सुफेद 'चौक' की लकीरें—मुक्ति और बन्धन की व्याख्या में छुटकारे की सूझ में दुबके से थे। यह कैसा खेल चित्रकार ने अपनी भूख का साधन बनाया है? यह कैसा अभाव था।

और सोयी पुष्पा? पुष्पा को सोये देख कर एक अज्ञात गुदगुदी होने लगी। हृदय सोयी हुई पुष्पा से सब कुछ कह सकता था और जग जाने पर?

फिर भी बोलना पड़ा, "पुष्पा!"

पुष्पा जगी नहीं। पुष्पा, 'स्केच', बकरी का बच्चा, चित्रकार और मैं!

मैं बाहर आया। नीचे 'हाल' से रज्जन का हँसना साफ सुनाई पड़ रहा था।

मैं लौट कर फिर कमरे में आया। पुष्पा अब भी सोयी थी। पुकारा, "पुष्पा!"

पुष्पा की आँखें खुलीं। वह उठी और आँखें मलते हुए बोली, "तुम कब आये?"

"अभी-अभी। तुम तो बेवक्त सो गयीं।"

पुष्पा ने जम्हाई लेते हुए कहा, "तबीयत ठीक नहीं है।"

फिर जरा देर बाद 'स्केच' उठाकर बोली, "यह आपके दोस्त ने बनाया है। आज सुबह बाहर गेलरी में मिले थे। कहा था, "मैं एक आज्ञा माँगता हूँ। आप अपना एक 'स्केच' मुझे खींचने देंगी..."

फिर पुष्पा चुप हो गयी।

"तुम तो अब जा रही हो पुष्पा।" मैं बोला।

पुष्पा ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

"अब के जरूर तू चिट्ठी भेजना।"

"तुम भी दशहरे में आओगे न?" पुष्पा ने आँखें ऊपर उठाकर कहा।

"हाँ।"

कि रज्जन ने कमरे में पाँव रखा और सुनाया, "विनोद आपका इन्तजार कर रहा है।"

मैंने पुष्पा को देखा। वह चुपचाप खड़ी थी।

अगले दिन सुबह आने का वादा कर मैं बाहर निकला।

राह में विनोद ने सुनाया कि रज्जन एक भी बाजी नहीं जीता, और आज वह पहले-पहल खेल से खीजकर उठा था। वह बहुत घबराया हुआ था। खेल बन्द होने के बाद तपाक से बोला—'यह जिन्दगी की आखिरी हार है।' रज्जन का आज का खेल उसकी लापरवाही और आत्मविश्वास का झगड़ा था। एक-एक बाजी के

बाद वह कार्ड काटता हुआ था कि हमेशा की जीत का यही नतीजा होगा, कभी नहीं सोचा था।

विनोद ने और सुनाया कि रज्जन को वह खूब समझ गया है। बहुत कुछ अनुरोध करने पर भी उसने बात न सुलझा कर टाल दी।

अगली सुबह पुष्पा के पास पहुँचा। देखा कि पुष्पा अकेली बैठी है! उसके पिता घूमने चले गये थे।

कमरे के भीतर पाँव रखते ही वह मुझसे लिपट कर बोली, "जब तक मैं यहाँ हूँ, मुझे अकेले न छोड़ा करो। मेरा मन नहीं लगता है।"

पुष्पा कुछ पीली पड़ गयी थी। पुष्पा की आँखों में कुछ आँसू की बूँदें जमा थीं।

पुष्पा का यह व्यवहार नया सा लगा। वह बच्ची नहीं थी। वह युवती, जहाँ लाज और शीलता का दावा भारी पड़ता है।

पुष्पा बोली. "मेरा तुम पर अधिकार है। इसी से कहती हूँ और किसके आगे हाथ पसारती?"

"यह न कहो पुष्पा।"

और पुष्पा छिटक, हटकर बोली, "चाय मँगवाऊँ?"

"क्या मेरी पुष्पा चाय पिलावेगी।"

पुष्पा हँस दी।

चाय आयी। दोनों चाय पीने लगे।

कि रज्जन कमरे में आया और आते ही बोला—"वाह तुम आ गये। मुझे खबर ही नहीं।"

पुष्पा ने रज्जन को देखा, उठाना चाहती थी कि चाय की प्याली लुढ़की और चाय साड़ी पर बिखर गयी।

रज्जन ने पुष्पा का हाल देखा और हँसता हुआ बोला, "मेरा आना बुरा हुआ, बेकार आपकी साड़ी खराब हो गयी। यही तो यादगार है।"

फिर मुझसे बोला, "हमारी-तुम्हारी दोस्ती काफी है। मेरे खातिर इनको नयी साड़ी दे देना। मैं खुद हर्जाना दे देता, पर फिलहाल जेब खाली है।" और हँसता-हँसता बाहर चला गया।

रजन आज बिलकुल लापरवाही से आया और चला गया। बाल बिखरे थे, आँखें लाल थीं।

अगली सुबह पुष्पा ने जगाया, "उठो!"

"क्या है पुष्पा?"

पुष्पा बिलकुल डरी थी, सफेद पड़ी हुई मिली। चेहरे में एक ज्ञेय भय टपक रहा था...

"रजन ने आत्महत्या कर ली!"

"आत्महत्या!" मैं चौंककर पूछ बैठा।

"हाँ, धोती का का एक छोर खूँटी से बाँध, दूसरा गले में डाले, झूल-झूल कर मर गया।"

"झूल-झूलकर?" मैं अवाक् रह गया।"

"यह चिट वह कल साँझ को दे गया था।" पुष्पा ने एक कागज का टुकड़ा दिया।

मैंने पढ़ा, लिखा हुआ था : तुम मेरी मौत चाहती हो न पुष्पा!

मैं दौड़ा-दौड़ा विनोद के पास पहुँचा। उसे सब कुछ सुनाया। उसे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ, जैसे कि वह यह सुनने को तैयार हो।

फिर वह बोला, "बेचारे ने जिन्दगी का आखिरी 'ब्रिज' खूब मन लगाकर खेला।"

मैं विनोद को देखता ही रह गया, कुछ भी नहीं समझ सका।

विनोद तो कुछ रुककर बोला, "यही उसने 'आखिरी स्केच' में देखा था।"

भद्दी दुनिया !

पवित्र-लोभ, जीवन में रुकावट कभी-कभी डालता है। सकारण तब भी कौन उसे बिसार सका है। दुनिया के भीतर खप जाना ही मनुष्य की अन्तिम चाहना होती, व्यक्तित्व और श्रेणी का सवाल नहीं उठता। यही बात है कि नवीन आँखें फाड़-फाड़ कर अपने चारों ओर देखता है। जीर्ण समाज है, कुछ रूढ़ियों से प्रचलित धारणाएँ हैं और धर्म की आड़ लिये हुए कुछ नियम। सहूलियत कहीं चलने में नहीं। जमाना बदल रहा है। व्यक्ति की बुद्धि पैनी होती जा रही है। इस बदलती हुई दुनिया में बात-बात की विवेचना करने का चलन आज बाकी नहीं है। सब लोग स्थिर हैं। हरएक की बात सुनकर भी अपनी निजी राय कोई नहीं देता है। सन्देह हर व्यक्ति के दिल में फोड़े की तरह पक चुका है। वह न जाने कब फूटकर मैले मवाद की तह से उस सभ्यता को ढक लेगा—इस ओर से सावधान कोई नहीं है। अपनी आकांक्षा को सब पकड़े हुए हैं। अपने अपनत्व को बिसारनेवाला तकाजा कोई भूलना नहीं चाहता है। छोटी-छोटी झोपड़ियाँ हैं, कच्चे मकान—महल, गली हैं, कङ्कड़ कुटे रास्ते और कोलतार से पुती सड़कें। कुनबे हैं, मुहल्ले और शहर का अपना अस्तित्व है। गरीब हैं, मध्यश्रेणीवाले और सम्पन्न परिवार! रोज का कारोबार भी बड़ी-बड़ी दूकानों से चलता है। फेरीवाले मुहल्लों में रहनेवाले अपने ग्राहकों को स्वयं ही सौदा दे आते हैं। कुछ लोगों का बैंक में रुपया जमा है, कुछ का उधार पर जीवन-निर्वाह रहता है। और जो बाकी हैं, उनके पास पैसा नहीं है। वे नंगे कहलाते हैं। फिर भी सबका अपना दायरा, समाज, आदर और तर्क है।

और गङ्गा के किनारे एक वह धर्मशाला है। न जाने कब बनी होगी। वहीं नवीन की बुआ माघ-स्नान करने आई है। वह वहाँ जाता है। यात्रियों को देखता है। लोगों की बातें सुनता है। पास छोटी-रेल की लाइन है। उसी पर से कभी कोई सवारी गाड़ी, तो फिर मालगाड़ी गुजरा करती हैं। पास ही गङ्गा के ऊपर, एक बड़ा पुल है, जो लोहे के बड़े-बड़े मजबूत खम्भों से स्थापित है। उसे गहरे सिन्दूरी रङ्ग से रँगा गया है कि दूर से ही दीख पड़े। खड़र खड़र गाड़ियाँ उस पर चलती हैं। वह भारी आवाज अनायास मैली-कुचैली धर्मशाला के कोने-कोने से प्रतिध्वनित होगी। न जाने क्यों दिल में भारी एक कठोर शब्द हथौड़े की चोट की तरह, खट-खट-खट वेधने की चेष्टा करता है। कभी तो उससे भय होता है। वह अधिक न जाने क्यों नहीं ठहरता। वैसे कभी तो जीवन को उखाड़ने का साधन-सा बन जाता है। तभी कोई छुपी पीड़ा उभर आती है। वह फिर भी है व्यर्थ ! उसकी अपनी भावुकता है। दुःख तो है एक बल, जो थके और हारे व्यक्ति को टिकाने में मदद दिया करता है।

धर्मशाला में मैली-कुचैली कोठरियाँ हैं। वहाँ यात्रियों को दो-चार दिनों का आश्रय मिल जाता है। निचली मंज़िल के बाहर दालान में, मिट्टी के बने चूल्हों पर आग सुलगायी जाती है। वहीं मिट्टी की हँडिया चढ़ाकर, खाना प्राप्त होता है। कोई भूखा रहना नहीं चाहता। भूख कोई विश्राम थोड़े ही है कि साध्य हो। उन टूटी मिट्टी की हंडियों को बाहर चौक में पाकर कुत्तों का दल उन पर टूटा करता है। या फिर काँव-काँव-काँव, कोई कव्वा चिल्लाकर, अपनी पक्षी जाति की उदारतापूर्ण चतुरता का परिचय देता हुआ मिलेगा। और यदि कुछ बात महज़ ज़रूरी हुई तो महतरानी पान चबाती हुई, पत्तों में जूठा अन्न बटोरकर ले जाती है। अपने हक़ों के प्रति उदासीन रहने वाले लोगों की ओर तीव्र इशारा कर, उनको दुतकारती है। या उसका बच्चा दूध पीता होगा। वह अधेड़ है। बच्चा माँ के स्तनों को चूसता—

चूसता रहता है। वह छुआकर दूध पिलाने को, ओट नहीं ढूँढ़ती है। लाज इसके लिए नहीं बरतती। ऐसी कोई आज्ञा जैसे कि उस छोटी जाति के लोगों के बीच प्रचलित नहीं है। न व्यक्ति के साथवाली झिझक का बरताव उनको सीखना पड़ता है। और धर्मशाला का गुमाश्ता उसे छेड़ता हुआ कोई मज़ाक करता है, तो पुट मुस्करा देती है। इस अधिकार की विमुखता का ध्यान जब आता है, वह एकबारगी, 'धुत' कह कर उसके सारे उत्साह को मुरझाने में भी प्रवीण है।

उसके चौड़े दरवाजे से बाहर एक सँकरी सड़क है। जिसके दोनों ओर छोटी-छोटी दूकानें हैं। बिलकुल सामने एक व्यापारी अपनी वृद्धा पत्नी के साथ परचून व और खानेपीने का सामान रखता है। सस्ती बाज़ारू चीज भले ही बेचें, महंगे दाम वसूल करना उनका रोजाना रोजगार है। वह वृद्धा पैसा हाथ में लेता है। चाँदी के सिक्कों को परखने लिए अपनी बीवी को दे दिया करता है। जितना ही वह कृष्ण-काय है, पत्नी की तौंद उतनी ही बाहर निकली हुई है। पास ही तरकारी की दूकान है। उस पर एक काली कलूटी औरत बैठती है। वह बहुत कुरूप है। सारा चेहरा चेचक के दागों के साथ, छलनी-सा लगता है। लेकिन सौदा देने में वह रूप के खिलाफ उदार अधिक है। बुढ़िया जितना ही हाथ खींचती है, वह उतनी ही लापरवाही बरतती मिलेगी। इसके बाद एक मुरमुरे और भुने चनों की दूकान है। उसमें सुतली से एक ओर दीवाल पर मिट्टी की चिलमें खूँटी से टंगी हुई हैं। पास ही काबुली चनों के टोकरे से लगा हुआ तम्बाकू का पिण्डा भी रखा हुआ है। एक ओर छोटा-मोटा बिसातखाना व पूजा की सामग्री धरी है। उसका सारा भार एक छोटा लड़का निभा लिया करता है।

तब भी नवीन अकृत्रिम का आदी नहीं। वह चाहता है, दुनिया धुलकर स्वच्छ हो जाय। कहीं कोई भेद बाकी भला क्यों रहे। वह लौकिकता को अहसान की तरह पड़ा रहने देना चाहता है। बुआ है, उसके साथ और भी औरतें रहती हैं। वह चुपचाप बुआ की आज्ञा का

पालन करेगा। सौदा-सुलफे का इन्तज़ाम देखता है। इस सबके बाद कभी-कभी वह न जाने क्यों बहुत डर जाता है। उसके आगे एक हिचक रहती है। वह सारे जीवन-व्यापार को क्यों अड़चन-ही-अड़चन समझ बैठा है ? वह जीवन को व्यवसाय बनाने पर उतारू नहीं होगा। अपने आगे उन्मुख कर्तव्य की लालसा भी उसे कोई कब रही।

दुःखी होकर वह यों ही ऊपर छत पर चढ़ जावेगा। वहां मुंडेरी पर बैठा-बैठा देखेगा : गङ्गा की तरेटी पर नजर पड़ती है। रेत के ऊपर ग्वम्बे-से कुछ निशान दीखते हैं। वह ताकता-ताकता रह जाता है। गङ्गा के उस पार फसलें खड़ी हैं—अरहर, पीले सरसों के खिले फूल। उस सबके बाद भी तृष्णा नहीं मिटती। कुछ अज्ञेय वह पाना चाहता है, जिसे खुद नहीं जानता। इस सबके बाद वह बेचैन हो उठता है। खड़ा हो जावेगा। नीचे वही धर्मशाला की कोठरियाँ हैं। वह तिमञ्जिले पर खड़ा है। पानी के नल के पास औरतें खड़ी पानी भरती हैं। और, और !

बुआ ने कहा था एक दिन, "पहचानता है इसे। उस रमेश की बहू है। अपनी सास के साथ, चली आयी नहाने।"

वह सास भी सरलता से बोली, "मोहन की चाची हूं मैं !" फिर भी उस रमेश को वह आगे नहीं लाती है। वह दुनिया से कभी विलीन हो चुका है। इसी से उस स्मृति को सम्मुख लाकर वह गोदी पर लगे गहरे घाव की पपड़ी हटाने को तैयार नहीं लगती है। खोई वस्तु का भरोसा ही कौन करता है ! मौत के बाद नाम की रेखा के अलावा कुछ खास बाकी बचता भी नहीं है।

रमेश की बहू ने एक बार आँखें ऊपर उठायीं। देखा था नवीन ने कि वे आँखें आँसुओं से तलबल भरी थीं। एकाएक आँचल में तभी मुँह छुप गया था।

उसकी ओर अधिक वह क्या देखता। वह तो अनमनी-सी, चुपचाप भीतर चली गयी। जैसे कोई भूला विद्रोह, भूचाल की तरह जाग उठा

हो। और नवीन हतबुद्धि सा बुआ से न जाने क्या-क्या बातें करता रह गया।

नारी की कितनी ही आकृतियाँ नवीन ने गढ़ीं। वह एक सही ढाँचा बनाना चाहता था। अनजाने उसका अछूता शरीर भी छू लेता, तो एक ज्ञेय हिचक और भय के कारण उसे मिटा डालना चाहता था। वह विचार करता करता, अटूट उस सारे रिश्ते को एक बार पढ़ लेने के अनुग्रह में था। उस टुकड़े-टुकड़े हुए, बिखरे-बिखरे जीवन को समूचा बटोर कर, पहचान लेना चाहता था कि क्या और कैसा था वह? वह भीतर मन में न जाने क्या-क्या झगड़ा अपने से ही करता है। बार-बार उस झगड़े को एक ठठोली के समान उड़ेल, पुकारकर कहना चाहता है—ओ, भाभी!

कहती न थी, बुआ ही—भाभी है यह तेरी।

आसानी से उसे कुछ भी प्राप्त नहीं। भारी जीवट-मजाक जैसे कि यह सब होगा। वह सुनहली दुनिया भले ही उसके लिए अकाट्य हो, उस युवती भाभी के लिए नहीं है।

वह युवती, चुपचाप सास की आड़ में रहती है। अधिक किसी से बातें नहीं करती। असावधानी से यदि नवीन के आगे पड़ती है, उसकी झुँझलाहट वह खूब पहचान लेता है। वह तो फिर सतर्क हो, जैसा मन में वादा करती हो—आगे वह उच्छृङ्खल नहीं रहेगी। यह ठीक नहीं,—ठीक नहीं है! और वह नवीन के पास से भी भागी-भागी फिरती है।

कोई और भाभी होती, नवीन उसको पकड़ कर बेड़ियाँ पहना लेना चाहता। यह वह अब भूल गया है। इस भाभी के लिए जरा भी कुतूहल मन में जमा नहीं होता है। इस साधारण पहचान के बाद, वह नारी उससे उलझने को कोई खास उत्साहित नहीं है। इसे नवीन उपेक्षा गिने, चाहे कुछ और—इनकार कौन करता है!

इस भाभी की कई झलकें उसने पाई हैं। वह है चिट्टी गोरी। तो भी चेहरे को साँवली उदासी उदासी घेरे रहती है। एक बार जब वह

मुँह धो रही थी, अपनी आँखों में नवीन ने भाभी के कमर तक फैले हुए बालों की छवि भर ली थी। लेकिन वह सब सुन्दर नहीं लगा। धुला यह चेहरा रोज की तरह ही मलिन था। उसमें रूप है, रङ्ग है; किन्तु खास अपना कोई जीवन नहीं। नारी का लुभावना भाव हृदय में उदित नहीं हुआ। हड्डियों और कुछ मांस की बनी ही वह लगी। दो आँखें, कान, नाक और मुँह जैसे कि उसमें हों गति उसमें नहीं है। कहीं ठीक आहट नहीं। आवाज नहीं। बोलेगी -चुपके-चुपके; जैसे कि चुहिया आधी अँधेरी रात्रि को कमरे में आ कर रोटी या कोई अन्न पा, उसे कुतरती-कुतरती करती है—चूँ, चूँ, चूँ ! स्पष्ट वह भाषा कब होती है !

एक बार वह बहुत नजदीक पहुँचा था समीप से देखा। कुछ क्षण अवाक्, स्तब्ध सा खड़ा रहकर फिर तेजी से भाग आया था। उस भाभी की आँखों से आंसू की बड़ी-बड़ी बूँदें ढुलक रही थीं। कोई भारी चोट जैसे कि खाकर आहत हो, यही था उसका अन्तिम एक सहारा !

कोई नवीन के जीवन में लालच सा भरता जा रहा है। वह 'कोई' जैसे कि उसे टटोलने की क्षमता रखता है। एक और परिवार भी वहीं टिका है। पति है, पत्नी और एक रिस्ते की बूढ़ी औरत। पत्नी युवती है। उसकी झँवरियाँ चलते-चलते—छम्म ! छम्म !! बज उठती हैं। एक विछोह नवीन के हृदय में उठता है। उस युवती की ओर अकारण ही न जाने क्यों आँखें फैल जाती हैं।

वह युवती हँसती मिलती है। उसमें चञ्चलता है, चापल्य है। गिलहरी की तरह वह मौज से इधर-उधर व्यस्त फिरा करती है। कभी झाड़ू देगी, तो रङ्गीन धोती का फेंटा कमर में पहले बाँध लेती है। उसे पुरुष से ऐसे लाज नहीं। पति से मुसकरा-मुसकरा कर बातें करती रहेगी। तब अन्दाज लगता है कि नारी का छल ही उसका देय बल है। नहीं तो वह अपनी कमजोरियों से कभी कहीं-कहीं चटक जाती।

नवीन छत पर बुआ के साथ बैठा हुआ धूप सेंक रहा था। जनवरी का महीना, कहीं पास गाँवों में ओले पड़े थे। शीत, हड्डी के भीतर पैठ, कँपकँपी पैदा करती। उस दुपहरी की धूप बहुत प्यारी लग रही थी।

कहा नवीन ने, "पूछ आऊँगा, क्या आप जावेंगे ?"

"नहीं, वह कई दिन से लगी है। एक दिन दिखा लाऊँ। हमेशा कहाँ ऐसा मौका मिलता है।"

तब वह एक अनुरोध था। नवीन के दिल में गुदगुदी उठी। अपनी भीतरी कठोरता को उसने पिघलते हुए पाया। जवाब दे दिया, "पूछ आऊँगा मैं।"

नवीन पूछने जावेगा कि कौन-सा सिनेमा है। उसका क्या स्वार्थ है ? वह सिनेमा उसकी आवश्यकता थोड़े ही है। जावे कोई, उसका क्या है ?

तभी बुआ ने पूछ डाला, "कोई अच्छा नाई मिलेगा ?"

"नाई !"

"रमेश की बहू पिण्ड देगी।"

"पिण्ड !" नवीन ने बुआ की ओर देखकर दुहराया।

"फूटा भाग्य है उसका।"

एक भारी चोट जैसे कि किसी ने नवीन के मारी हो। वह स्तम्भित रह गया। यह नारी क्यों इस तरह एक आदमी की पूजा करती है। यह कैसा अन्याय है पुरुष का! पत्थर की पूजा आदिकाल से चली आयी है। वह भले ही बहाना हो। यह व्यक्ति की पूजा का सवाल कैसा आदर है। अपने में कितना ही उसने विचार किया, निर्णय कुछ नहीं कर पाया। नतीजा पाया कि इस व्यवस्था के अनुसार सर्वदा आदमी की पूजा नारी को करनी पड़ेगी। अन्याय है यह—एक भूल ! वह उस पर विश्वास नहीं करता है। फिर नाई आया ही। नवीन वहाँ से हट गया था। आगे

देखा उसने था कि उन काले-काले बालों को गङ्गा में बहा दिया गया। उस धर्म की व्याख्या वह अधिक नहीं कर सका था।

दिल में पीड़ा थी। पैडिल मारता-मारता वह सिनेमा पहुँचा और एक 'हैण्डबिल' ले आया। लाकर उस अधेड़ को दे दिया। वे सन्ध्या को सिनेमा चले गये। वह चुपचाप छत पर बैठा देखता रहा—सूर्य डूब रहा था। मन खाली हो आया। बार-बार, उमड़-उमड़ पड़ना था वह, कि कब न जाने छलक उठे वे।

तभी देखा, वह मोहन की चाची आयी थी। आकर बोली, "जा रहे हैं हम।"

"कहाँ ?" नवीन ने उलझन में पूछा।

"भयाजी।"

"वहाँ !"

"यात्रा पूरी करनी है। अबके तुझे देख लिया—धन्य भाग ! अपने शरीर की हिफाजत किया कर।"

नवीन चुप रहा—चुप। स्वास्थ्य की यह सीख एक प्रतीक-सा, वह बुढ़िया समझ बैठी है। लड़के की मौत के बाद हरएक लड़के से यही कहने को बाकी बचा है।

उसने उसे प्रणाम किया। वहीं बैठा रहा। वह चली गयी थी। एक बार नीचे झाँका—वह भाभी भी खड़ी थी। उसने उसकी बड़ी-बड़ी आँखें उसी तरह पायीं—वह डबडबायी थीं। आँसुओं से भरी रहीं !

वह चिल्लाकर कहना चाहता था—तुम क्यों रोती हो इस तरह !

लेकिन वह चुप रहा। वे लोग चले गये थे। नवीन लुटा-सा क्षितिज की ओर देखता—देखता रह गया..... !

असमञ्जस में वह दुनिया को टटोल रहा था . ...।

कुसुम की बात

"मैं अब बचूँगी नहीं।"

'कुसुम!"

"चाहे देख लेना। सच ही कह रही हूँ।"

फिर भी मैं चुप रहा।

कुसुम कह रही थी, "तुम जा रहे हो। यूनीवर्सिटी में एक दिन की देरी हो जावेगी। यही बहाना है। कुछ दिन रुक क्यों नहीं जाते। जब जाने को तैयार हो गए, तब सिर्फ पूछने ही आए हो। कल तो सुनाया भी नहीं था। अब मुख-मुलाहजा करने से क्या होता है।"

कुसुम का गद्‌गद स्वर। आँखों में आँसू छलछला रहे थे। कुसुम रो रही थी। जो सोचता था वही हुआ, कुसुम अकेली मिली। कुसुम के सवाल का उत्तर क्या था?

वह शायद न जानती थी कि मैं किन परिस्थितियों में हूँ। घर पर भाभी खाट पकड़े हुए थी। अच्छे होने की नहीं और यहाँ कुसुम!

उस हिल-स्टेशन को छोड़ने से पहले, कुसुम से मिलने आया था। जाने से पहिले कुसुम से मिलने का साहस नहीं हुआ। उसके आँसुओं के आगे मैं पिघल जाता था। भाभी की लम्बी बीमारी ने दिल इतना कमजोर बना दिया था कि जिस दिन कुसुम के पिता अपनी रोगिणी बेटी को, पड़ोस के बँगले में ले आए, मैं डर गया। एक पड़ोसी के नाते जब कुसुम से परिचय हुआ, उस दिन उसका रोग असाध्य नहीं था। सुस्त रहती, उदास लगती, मलिन हँसी हँसती और उसके चेहरे पर वेदना की स्पष्ट छाप थी। उसमें अपना ही एक सौन्दर्य और आकर्षण था। वह एक भावुक गीत की तरह कोमल थी। मुझे वह एक घायल

कबूतर की तरह लगी, जिसके लिए दिल के खाली कोने में एक घोसला सौंपने को मन व्याकुल हो जाता है। वह तो मूकता से सुझाती लगी—यहीं अब रहूँगी मैं। मुझे स्थान देना। तुम्हारे ही समीप रहूँगी। यदि दुःख की पीड़ा से छटपटाऊँ, तो तुम हाथ बँटाना। वेदना से तड़पूँ, तुम उसे बाँट लेना। जब उदास रहा करूँ, तुम मेरा जी बहलाना। बस, मैं अच्छी हो जाऊँगी। देखो न, तुम क्या नहीं देख रहे हो। यहाँ आकर अब बैठ लेती हूँ। चल फिर सकती हूँ। अब जल्दी ही चंगी हो जाऊँगी। फिर...

उसी कुसुम से उस हिल-स्टेशन को छोड़ने से पहले मिलने का साहस नहीं हुआ। उसके भोले उदास चेहरे को एक बार पढ़ लेनेवाला बल मुझमें नहीं था। और उसे जाती बेर यह समझाने की बात न कह सका—कुसू दशहरे की छुट्टियों में आऊँगा मैं—जरूर आऊँगा। तब तुम अच्छी हो जाओगी। हाँ, वह कृष्णा-पनिहारिन का पत्थर का 'मॉडल', जिसका जिक्र मैंने तुमसे किया था। जिसे बनाने में चतुर शिल्पी ने पूरा एक साल व्यतीत किया। वह अब व्यापारिक दुनिया में सस्ते मूल्य पर बिकने लग गया है। वह फोटो का अल्बम और किताबें भी लाऊँगा। नहीं, जाते ही पारसल से भेज दूँगा। चिट्ठी लिखना तू।

लेकिन हृदय में रोगिणी भाभी ने नासूर बना दी थी। मैं देखता रहा कि भाभी मेरे 'हॉलडॉल' को बँधते हुए देखकर पीड़ित थी। वह नहीं चाहती थी कि इतनी जल्दी मैं उसके पास से हटकर, दूर देश चला जाऊँ। वह मेरी सहानुभूति और सहारे की भूखी थी। वह मेरे अति समीप की पहचान थी। स्वामी के बाद वह मुझे खूब प्यार करती। और हमारे घर में प्रवेश करते ही, उसने मुझसे बराबरी का नाता जोड़ लिया था। हम लोगों के बीच अक्सर झगड़ा भी होता। वह झूठा निकलता। हम लोगों की दुनिया एक सुख और आनन्द की दुनिया थी। भाभी जब रूठती तो मैं मनाता, वह भी इसका बदला लेने में प्रवीण थी। आज मैं उसके समीप से भी दूर—अति दूर चला जा रहा था।

पहाड़ों से दूर—बनारस। तीन महीने की छुट्टियाँ तो देखते-देखते ही व्यतीत हो गई थीं।

'हॉलडॉल' बँध गया। सूटकेस भी ठीक कर लिया। नौकर ने समान उठाया। मैं भाभी के चरणों में सिर रखकर, बिदा लेने लगा। भाभी के चरणों में सिर रखकर, बिदा लेने लगा। भाभी तो रो रही थी। वह कुछ कहना चाहती थी, कुछ बोलना चाहती थी, पर कहे कैसे! हृदय में एक झगड़ा था, कलह था, दुःख था और वेदना की भारी सुलगी आग की पीड़ा थी। वह आँसू बहा रही थी। स्थिर थी वह—आँसुओं के अलावा। वे आँसू ही जैसे कि उसका जीवन रहा हो। मेरा हृदय भी एक यंत्र की तरह धुक-धुक कर रहा था। भाभी मूक थी।

मैंने सिर उठा लिया। भाभी अवाक् रह गई। अपने भीतर मैं भी रो रहा था। भाभी के उभरे आँसू मन को बेकल बना रहे थे। मेरी पलकें अब भीज गईं। मैंने एक बड़ी कमजोरी महसूस की। आँसुओं की बाढ़ फूट निकलना ही चाहती थी। मैं सावधान होकर बोला, "अब मैं जाऊँ भाभी।"

भाभी अवाक् पड़ी की पड़ी रही—जड़वत्। कुछ सँभल कर धोती के छोर से आँसू पोंछती निरर्थक उठने की चेष्टा करने लगी। मैं रोकते हुए बोला, "तुम लेटी रहो। डाक्टर ने मना किया है।"

आखिर भाभी बोली ही, "एक-दो दिन रुक नहीं सकता है। तेरे बिना मेरा दिल कैसे बहलेगा?"

भाभी की यह कितनी सरल बात थी। ये आँसू और यह अनुरोध रोज की बात होगी। ये सुकुमार भावनाएँ कब तक जीवन में चलेंगी। आज न सही कल तो जाना ही होगा। उतना भावुक वातावरण मेरे मन को निर्बल बना रहा था। मैं सँभलकर बोला, "यूनीवर्सिटी खुले हुए हफ़्ता भर हो चुका है।"

"हफ़्ता !" भाभी चौंक उठी। जैसे कि इस बात ने पैना डंक उस पर मारा हो।

"हाँ भाभी, जाना चाहता हूँ, तो दिल विद्रोह करता है। मैं क्या करूँ।'!

"अच्छा तो जा। खूब पढ़ना। चिट्ठी जाते ही भेज देना। मेरी फिक्र न करना। भाग्य में जो भोगना लिखा है, वह तो भोगूँगी ही। कुसुम से मिल आया ?"

सब और सारी बात भाभी एक स्वर में कह बैठी। मैं तो बोला ही, "नहीं भाभी।"

तू कसुम के पास नहीं गया। जा उसे समझा आना। भगवान् उसे बचा दे।"

और मैं बाहर निकला। कुसुम के पास जाने का साहस फिर भी नहीं हुआ। कुसुम तो पगली थी। न जाने क्या कह बैठे। उसके अनुरोध के आगे मैं चुप रह जाता हूँ। वह विदा नहीं करेगी। उसका हृदय मैं पढ़ चुका हूँ। चिट्ठी लिखकर माफी माँगी जावेगी। मैं चुपचाप लारी-स्टैंड पर पहुँच गया कि कुसुम का क्षीण स्वर-सा सुनाई पड़ा—क्यों, भागे जा रहे हो ! तुम बड़े निठुर और झूठे हो जी।

वह कुसुम ही थी। हमारे पड़ोसियों की लड़की कुसुम वह नवयुवती थी। उसका सुंन्दर पीला-पीला चेहरा था। वह वेदना और दुख की भोली सजीव मूर्ति थी। वह रोग में घुली, ढाँचेमात्र में सीमित सजीवता की खानि थी। वही कुसुम थी। हमारे पड़ोस में एक दिन दूर देश से आई थी ! साथ में सारा परिवार था। सब आए थे कुसुम को पहाड़ लेकर। डॉक्टरों ने कहा था कि पहाड़ों की हवा में वह भली हो जावेगी।

एक दिन बड़ी सुबह मैंने अपने कमरे की खिड़की खोलकर बाहर झाँका था। पड़ोस के मकान पर नजर गड़ गई। एक साफ-सुथरे पलँग पर एक रोगिणी लेटी हुई दिखी।

"कुसुम-कुसुम !" उसकी माँ उसे जगा रही थी। "उठ बेटी, चल घूमने।" और कुसुम अलसाई-सी उठी। उसी वक्त कुसुम को दूर से पहचाना था। देखा था और बड़ी देर तक अखबार में छपी पहेलियों को न सुलझा, उसी पर सोचा भी था। शब्दकोष को एक ओर रख कर २०,००० रुपया इनाम पाने की बात खो गई थी। अब तो सन्मुख सत्य का एक बेबूझा सवाल था। वही—वही रोगिणी कुसुम ! भाभी की बीमारी ने नारी-हृदय की अथाहता को बूझ लेने का पाठ पढ़ाया था। भाभी ने समस्त विश्व की रोगिणियों के प्रति सहानुभूति और श्रद्धा का बीज मेरे हृदय में बो दिया था। भाभी मात्र नारी जाति की प्रतिनिधि कब थी। कुसुम भी थी। भाभी और कुसुम ! कौन दुःखी थी अधिक। मेरा तार्किक मन न जाने क्या-क्या सोच रहा था। भाभी का स्वामी है पर कुसुम ? वह कुसुम सत्रह-अठारह साल की युवती थी। यदि वह बीमार न पड़ती तो उसे भी स्वामी मिल जाता। अपने जीवन के उस अस्वस्थ वातारण में क्या उसके दिल में स्वामी पाने की भूख न उठती होगी ? उसकी सहानुभूति वह बूझती होगी। नारीत्व की उस आग के लिए !

'बहू बुला रही हैं।' नौकरानी ने कहा। भाभी को दवा देने का वक्त हो गया था। उसे दवा पिलानी थी। आज तक नियुक्त समय पर मैं सब व्यवस्था सँभाल लिया करता था। आज वहीं एक अड़चन लगी। उसी दिन कुसुम ने मुझे जीत लिया। आधे घंटे तक भाभी ने प्रतीक्षा की, फिर नौकरानी को भेजने से मजबूर हो गईं। मेरा अपना मानसिक द्वन्द्व एक अपना ही प्रभाव डाल चुका था। मानवता की एक अबूझी पहेली थी कुसुम। मैं उसे खूब-खूब पहचान लेने की धुन में था। उसका मन मेरी पकड़ में आ जाता। वह नारी मनोविज्ञान से परे नहीं थी। वह भी पति की चाहना रखती होगी। उसने भी उसकी सहानुभूति पर निर्भर रहना चाहा होगा। वह उस अवस्था पर थी, जब युवती पति का सुखद स्वप्न देखती है। जब

पति के प्रति भावुकता का उफान उदित होता है। जब वह अनायास पति को मूकता से सुझाती है—हम तो एक ही हैं। मात्र एक—प्रकृति के नारी-पुरुष। नारी का वह अंतरिक्ष, वह सुखद कल्पना, वही सब कुछ ! मानवता का वह मधुर सुख, वह प्यार करने की भावना। कुसुम, बीमार कुसुम, वह क्या नहीं चाहती होगी पति का प्यार ! लेकिन कुसुम थी कुमारी। वह जाल सच्चा नहीं था। वह तो एक दूर का भविष्य था, जिसको रोग के काले परिधान ने अनायास ही ढक लिया।

अब मैंने भाभी को दवा उड़ेलकर दे दी। भाभी ने वह 'घुट' से पी डाली। मैं कुरसी पर बैठ गया। अपने मन में बहुत सारी बातें छुपाकर भी चुपचाप बैठा ही रहा। फिर अपने भावों को बिसारने पूछा, "अब जी कैसा है ?"

भाभी जैसे कि सारा परिवर्तन भाँप रही थी। मैं डर गया। नौकरानी ने कौन जाने भाभी से यह सब कह दिया हो। सच ही मैं उस वक्त पागल-सा खड़ा था। किन्तु सामने सड़क पर कुसुम अपनी माता और भाई-बहिन के साथ घूमने निकल आई थी। वे सब एकाएक हमारे यहाँ चले आए। भाभी उनको जानती थी। कई साल पहिले वे इसी 'हिल स्टेशन' में आए थे। भाभी ने उन सबको बैठने को कहा। लेकिन कुसुम तो खड़ी ही थी। उसकी माँ बोली, "कल ही सुना तुम बीमार हो। अब जाकर घर के काम से निबट सकी हूँ। कुसुम भी बीमार है। बुखार पीछा नहीं छोड़ता। अब तबीयत कैसी है ?"

भाभी ने बेकार उठने की चेष्टा करते हुए कहा, "अच्छी है।" वह कुसुम फिर भी चुपचाप खड़ी थी। चेहरे पर रोग की झाइयाँ थीं। बहुत सुस्त थी। मुझसे रहा नहीं गया बोला मैं, "बैठ जाओ।"

और बिना आनाकानी के वह थकी सी बैठ गई।

मैंने भीतर जाकर, बाजार से पान मँगवाए। तश्तरी में सजाकर ले आया। कुसुम की माँ बोली, "मैं तो खाती नहीं हूँ कुसुम को दो।"

कुसुम पान उठाते मुस्कराई। वह मुस्कान एक व्यावहारिक धन्यवाद ही न था, उसमें अनुग्रह और विनय भी था।

कुछ देर के बाद कुसुम अपनी माँ के साथ चली गई। अब भाभी बोली, "कैसे भले लोग हैं ये!"

तो जवाब दिया मैंने, "भले क्यों नहीं होवेंगे। जब उनकी मिठाई व लीचियों की भरी टोकरी हम खा चुके, तब तो जरूर ही भले हैं!"

भाभी हँस पड़ी। अब मुस्कराकर कहा, "डाली तो पहले से आती हैं। फल फूल ही नहीं कुछ और भी आनेवाला था।"

"क्या भाभी!"

"एक खिलौना।"

"जो टें टें करता है।" मैं हँस पड़ा।

"नहीं, कान पकड़नेवाला।" भाभी मुस्कराई।

आज भाभी कुछ भावुक बन गई थी। छुट्टियों के इस बड़े अरसे में यह दूसरा ही मौका था। एक दिन वह कि जब वह अपने हृदय को फैला कसम खा स्वीकार कर चुकी थी कि भाई साहब के बाद वह मुझे प्यार करती थी और आज!

"क्या बात है भाभी?"

"वाह, सब बातें जैसे बताने की ही होती हैं। समझ लो कि यह नहीं है।"

"तब ठीक है। तुम बैठी रहो। मैं जा रहा हूँ, क्लब में ब्रिज खेलने।"

"रूठ गये हो। तभी तो कान पकड़नेवाली की बात चलाई थी।"

और भाभी ने सारी बात सुनाई कि पिछली बार जब कुसुम अपनी माँ के साथ आई थी, तब मेरी माँ ने उससे रिश्ता तय-सा कर लिया था। आज वह बीमार न पड़ जाती तो!

क्या वह कुसुम भी यह बात सुन चुकी होगी। इस तरह बीमार पड़ना ! उसी वक्त से वह युवती दिल में और नजदीक सरक गई। और अब उसे देखकर एक कुतूहल होता था। कभी-कभी मैं अपनी खिड़की से देखता कि वह अपने फैले बालों को धूप में सुखा रही है। अक्सर वह उदास-सी लगती। मेरा मन उससे पूछना चाहता—कुसु, अब कैसी हो।

यदि यह मैं कहता, वह जरूर शरमा जाती। मेरी भाभी का आदर वह भी करती थी।

आगे एक दिन भाभी को चिम्मच से दलिया खिला रहा था। कुसुम का नौकर आकर बोला, "आज बीबी की तबीयत बहुत खराब है।"

मैं सहम गया। भाभी की समझ में बात आई। बोली मुझसे, "देख आओ। मैं खुद खा लूँगी।"

भाभी ने यह क्यों कहा ! जो भाभी उठ तक नहीं सकती थी, भला वह अपने आप कैसे खावेगी ! तो क्या भाभी जान गई थी कि कुसुम के प्रति मेरा आकर्षण बढ़ गया है। वह एक व्यंग तो नहीं था। सँभलकर कहा मैंने, "तुम पहिले खा लो भाभी। तब चला जाऊँगा।" और बस चुपचाप खिलाने लग गया।

कुछ देर बाद कुसुम के पास पहुँचा। वह लेटी हुई थी। आँखें मुँदी थीं। छोटा भइया झपकियाँ लेता-लेता पंखा झल रहा था। और लोग काम-काज में जुटे थे। मैं पंखा लेकर, खुद ही झलने लगा। कुसुम की नींद टूटी। वह जग पड़ी। उसने मुझे देखा। इधर-उधर देखा। सँभल गई। शरम की एक बाढ़ उसकी आँखों में आई। फिर अपने दुःख में खो अनमनी-सी लगी। परिस्थितियाँ सँवारकर बोली वह, "पंखा रहने दो। ठंडा तो है खिड़की से खूब हवा चल रही है।"

मैं फिर भी माना नहीं।

तब कुसुम उठ बैठी। न जाने क्या सोचकर, तपाक बोली, "सुना तुम्हारी शादी होने वाली है।"

"मेरी !"

"हाँ, सच बात है। सरोज अब के आठवें में पढ़ रही है। पारसाल ही उसे देखा था। अच्छी है। मुझसे भी गोरी।"

"कुसुम !"

"फिर क्यों पूछोगी किसी को ?"

"कुसुम !!"

कुसुम आगे बोल नहीं सकी। आँसू बहने लगे। कुछ जरा-सी बात हुई आँसू ! उसे समझाते हुए कहा, "कुसुम !"

भला कुसुम के आँसू थम सकते थे।

उसका हाथ अपने में लेकर बोला मैं, "कुसुम !"

फिर भी आँसू रुके नहीं। कुसुम 'हूँ' बोली नहीं।

"कुसुम !"

अब वह जरा सँभली। भीगी पलकें उठीं। मैंने डबडबाई हुई आँखें पाईं। वह अपने को समझकर बोली, "हाँ।"

तो कह बैठा मैं, "देख कुसुम; ब्याह एक बार जीवन में होता है। सच बात है यह। वह मेरा हो चुका। माँ ने तीन साल पहले मँगनी की थी। वह अब अटल और अकाट्य है।"

कुसुम कुछ बोली नहीं। बोल भी नहीं सकी। मूक रही। साँसें प्रतिध्वनित हो रही थीं। उसकी भावना, विचारों और आशाओं का रेखा चित्र खींचकर, मन ही मन मैंने अनुमान लगाया कि यही नारी-हृदय की कहानी है। यहीं पर नारी आगे कुछ नहीं कह सकती है। यही था नारी का आग्रह और शिष्टाचार ! उसे पुरुष की तब अधिक परवाह नहीं रह जाती है। वह कुसुम भी अब अपने को जीवन के एक पवित्र सूत्र में बँधी पाने लगी। वह समझ गई कि उसकी भी कहीं एक अपनी जगह है।

भावुकता का वह नाट्य निपट गया। वह अपना हाथ छुड़ाकर मुस्करा उठी। और मुझे ऐसा सा लगा कि मानो कुसुम अब युवती

नहीं, एक नववधू है और अब अपने पति के जीवन से आँखमिचौनी खेलने का दाँव सोच रही है।

मैं अपने यहाँ लौट आया। भाभी के पास जाने का साहस नहीं हुआ। एक भावुकता हृदय में बैठ चुकी थी, उसे लेकर भाभी के आगे कैसे जाता। भाभी के पास फिर भी गया ही। अपने हृदयवाली नारी को भी भाभी के चरणों में सौंप देना चाहता था। चाहता था कि वह भाभी-सा बल पा ले। पिता के परिवार से बाहर उसे भाभी से गृहस्थी के उत्तरदायित्ववाला पाठ पढ़ाना चाहता था।

भाभी ने पूछा,—"कुसुम कैसी है।"

"अच्छी?"

भाभी तो बोली फिर, "तू तो बहुत उदास है। क्या झगड़ा हो गया।"

"नहीं, उसे बुखार बहुत तेज रहने लगा है।"

"घबड़ा मत अच्छी हो जावेगी वह।"

फिर कोई बात नहीं हुई। भाई साहब आफिस से लौट आए थे। भाभी के इलाज बदलने का सवाल था। तीन बड़े-बड़े डाक्टरों से इस बात पर अगली सुबह को राय ली जाने वाली थी। भाभी उठ नहीं सकती थी। खून सूख रहा था। वह घुल रही थी। शरीर पर एक निर्जीव सुफेदी फैली थी। भाभी न जाने कहाँ जाने पर तुली थी।

और कुसुम! एक दिन फिर मिली थी वह। एक हफ़्ते बाद घूमने साथ-साथ निकले थे। संध्या का सुनहला वक्त था। उसकी माँ और भाई-बहिन आगे बढ़ गए थे। कुसुम मेरा हाथ पकड़ कर चल रही थी। हम बहुत पीछे छूट गए थे। एकाएक सवाल पूछा मैंने, "कुसुम, तू ने शादी की मिठाई नहीं खिलाई।"

"और तुमने!"

"मुझे तो अभी सरोज को भी लाना है।"

कुसुम को यह बात लग गई। वह मजाक उसे डस गया। वह मुरझाकर बोली, "बड़े स्वार्थी होते हैं पुरुष। कर लो न उसी से शादी। मैं कब मना करती हूँ। इस तरह मुझे डराते क्या हो!"

तब बोला मैं, "तू तो रूठ गई है कुसुम।"

"इसमें रूठना क्या। विधाता ने तुमको पुरुष बनाया है। जो चाहो कर सकते हो। भला तुम्हारा क्या विश्वास?"

"यह झूठ है कुसुम।" कह मैंने उसे अपने वक्षःस्थल से लगा, उसका माथा चूम लिया था। कुसुम अपने को भूली एक सरल मुद्रा में खड़ी ही थी। वह समझ गई थी कि वह मेरी अपनी ही है।

संध्या की धुँधली लाल-लाल रोशनी पहाड़ की उस चोटी पर पड़ रही थी। दूर एक ओर कुहरा उठ रहा था। और कुसुम ने अपने को मुझे सौंप दिया था।

—तभी तो लॉरी-स्टेंड पर पिछली सारी बातें एक-एक कर याद आईं। कुसुम की वह मलिन हँसी मैं सह नहीं सका। कुसुम से मिलकर, उसे समझाना था। कुसुम ने एक दिन कहा था—अब मैं अच्छी हो रही हूँ। जल्दी स्वस्थ हो जाऊँगी। तुम्हारे समीप रहकर भला क्यों नहीं अच्छी होती।

कितनी भोली है कुसुम। कुछ भी बात छुपाना नहीं जानती। एक दिन तो बात-बात में सारे भविष्य की व्यवस्था का रेखाचित्र खींच डाला था। अक्सर वह गृहस्थी की बातों पर दलील किया करती थी। सारी बातें जैसे कि अपने अधीन थीं और वे सब जीवन के बहीखाते में खरी उतरेंगी।

उसी कुसुम से, हिल-स्टेशन छोड़ने से पहले मिलने का साहस नहीं हुआ। वह कोई भी रोड़ा बीच में लगा लेती। किन्तु मन कहाँ माना वह न्याय उसके प्रति जँचा नहीं वह कुछ ही सोच लेती। उसका दुःख भी मेरा दुःख था। उसका रोग?

कुसुम के पास पहुँचा तो उसने सुनाया कि वह नहीं बचेगी। यह कैसी बात थी। क्या यह सच भी हो सकता है। झूठ सब—सब लगा।

लेकिन कुसुम की वही पुरानी भावुकता, वही रूठना!

"सच कह रही हूँ मैं। तुम रुक जाओ। नहीं तो मैं जीकर क्या करूँगी। मेरा मन नहीं लगता है। न जाने क्यों अकेले भारी डर लगता है। तुम मेरे नजदीक रहा करो।"

यह संभव बात नहीं थी। मैं कैसे रुक सकता था? भाभी क्या सोचती। लोग क्या कहते। माना एक दिन रुक ही गया, पर फिर भी आगे जाना ही होगा। यह व्यर्थ का प्रस्ताव था। एक अनहोनासवाल। साहस बटोर, कुसुम को समझाते हुए बोला, "तू बेकार घबड़ाती है। वहाँ जाते ही मैं चिट्ठी तुझे लिखूँगा। किताबें भी भेज दूँगा।"

"नहीं, तुम मत जाओ। नहीं तो मैं तीन-चार दिन में ही मर जाऊँगी।"

"कुसुम!"

"....."

"तुम रो रही हो कुसुम।"

वह तो सिसक-सिसककर बोली, "तुम जा रहे हो जाओ। भला मैं रोकने वाली कौन होती हूँ! यह जाने रखना मैं मर जाऊँगी। तब जाओ न। तुम्हारी मोटर छूटने का वक्त हो गया है।"

वह उठी और मेरे आगे तनकर खड़ी हो गई। मैंने उसकी भारी-भारी सिसकियाँ सुनीं। वह कुम्हला गई थी। बार-बार न जाने क्यों सिहर उठती थी। कुछ देर के बाद सँभल-कर बोली, "क्या हम फिर भी कभी मिलेंगे!"

इसका जवाब मैं नहीं दे सका। कुसुम खड़ी ही थी। मैंने उसके दोनों हाथ अपने हाथ में ले, उसके सूखे ओंठों पर अपने ओंठ लगा दिए। वे ओंठ जल रहे थे। उसे भारी बुखार चढ़ गया था। वह अनर्गल बक रही थी। वह अपने होश-हवाश में कहाँ थी! चुपचाप उसे

चारपाई पर लिटा दिया। उसकी माँ आ पहुँची थी। उनसे मैंने बिदा माँग ली और अपनी पीड़ा को बटोर कर बाहर निकल आया।

उसी दिन मैंने वह हिल स्टेशन छोड़ दिया था।

बनारस में गंगा-किनारे, यूनीवर्सिटी -घाट पर एक मधुर संध्या को मेरे मित्र ने यह सब सुनाया था। वह अपनी वैवाहिक समस्या पर प्रकाश डालने लगे और यह जीवन की कहानी भी सुनाई। उसकी शादी होने वाली थी। माता के अनुरोध के आगे वह इनकार नहीं कर सके। और उस कहानी की कहानी :

बोले वे—मैं बनारस पहुँच गया। आठवें रोज मेरा एक मित्र उस हिल-स्टेशन से आया और उसने सुनाया कि मेरे आने के तीसरे दिन बाद सच ही कुसुम मर गई थी। मैं धक्क सा रह गया। सोचा, यह कैसा होनहार था! उस मित्र ने यह भी कहा कि वह दो दिन तक बेहोश रही और अन्तिम समय इधर-उधर देखा, गुनगुनाई—झूठे निकले। मेरी बात नहीं मानी।

उनका स्वर गद्‌गद हो उठा। वह कहता रहा, "विवाह करना पड़ेगा, पर क्या वह नारी, कुसुम-सी आवेगी। जो हृदय कुसुम से हार चुका हूँ वह खाली जगह! भाभी भी एक अरसे तक बीमार रह कर आखिर एक दिन हमारे बीच से चली गई। वह भार, दिल की पीड़ा!! उसे एक अज्ञात बालिका को अब उठाना पड़ेगा।"

बड़ी देर तक हम वहीं गङ्गा की बहती लहरों को देखते रहे। लौट आखिर आए। राह भर मैं सोचता रहा—कुसुम की बात!

———

मकड़ी का जाला

उस ज्ञानू के पागलपन पर बार-बार विचार किया करता हूँ। उसी ने एक दिन सुझाया था, 'सम्भव मौत है और असम्भव जीवन !"

मेरे जीवन में बुद्धिवादी आदमी के लिए आदर है। उसके पैने तर्क के आगे खामोश भी रह जाता हूँ। हरएक धारणा को ग़लत कोई साबित करता रहे, यह मुझे मान्य नहीं। ज्ञानू के कथन से इसीलिए उस रात अपने को अलग नहीं हटा सका। बार-बार अपने विचारों की कसौटी पर, उसकी बातें परखता ही रह गया।

ज्ञानू ने कहा था, "तू तो बेकार जीवन के खेल से घबड़ा जाया करता है। सुन, जरा-जरा सी बातें भी अचरज की होती हैं। एक मक्खी को पकड़ ले। हल्के उसे मांज डाल कि बेहोश वह हो जाय। फिर उसे मकड़ी के ताने हुए जाले पर फेंक देना। इसमें कुतूहल का कोई सवाल नहीं है। न वह एक अचम्भा ही है। वह मक्खी होश में आते ही, उड़ने की चेष्टा करेगी। तभी मकड़ी, उसके चारों ओर सावधानी से, जाला बुनना शुरू कर देती है। यह क्या सम्भव का सही तमाशा नहीं ?"

मैं भला कैसे कुछ जवाब दे देता। अपना, कहने का अधिकार भी इसे नहीं मानता हूँ। तब तो ज्ञानू हँस पड़ा था, कहता-कहता, "अरे क्यों, क्या हो गया है ? इस विश्व के विकास को मैं आजकल सुलझा रहा हूँ। यह इतनी सब छानबीन कर पायी है।"

"क्या ?" अनायास ही मैं सवाल पूछ बैठा।

"कुछ नहीं। अक्सर मैंने मौत की जीवन-कोमलता से तुलना की है। मौत बहुत भद्दी कही जाती है। वास्तव में वह ऐसी नहीं है। हमारी अज्ञानता है कि !"

"तो क्या मौत की कोमलता से तुलना करोगे ?" डर कर मैंने ज्ञानू की ओर देखा।

मैं ज्ञानू के ज्ञान का कायल जरूर हूँ। उसकी सङ्गमरमर की बनाई मूर्तियों को देखकर उस पगले के लिए मैंने मोह भी न जाने क्यों बटोर लिया था। रोज ही मैं देखता कि वह अपनी छेनी से सुन्दर-सुन्दर ढाँचे गढ़ लेता है। मैं अचम्भित रह जाता। उसकी मूर्तियाँ सजीव होती थीं। जैसे कि प्राण उनमें हों और अब अभी-अभी वे बोलेंगी।

ज्ञानू ने चुप रहना ही कब जाना था। एकाएक तेजी में बोलने लगा, "यह कोई भेद की बात नहीं है। सारी सृष्टि का आधार ही कोमलता है। यह तो सचमुच मौत का एक प्रतीकमात्र है। यह आदि-काल से आज तक लगातार दुनिया भर में फैलती चली गई। यह समाज, गृहस्थी आदि सब कोमलता पर ही टिके हुए हैं। अन्यथा व्यक्ति और समाज में विद्रोह नहीं फैलता इसी कारण से सभ्यता के साथ-साथ इन्सान का दिमाग प्रतिदिन भावुकता में डुबकियाँ लगाता है। यही कारण है कि पुरुष के जीवन में नारी, एक कोमलता की तरह प्रवेश कर, हठीली बनी दूर भाग जाती है। उलझन में पड़ा आदमी सब पहचान लेने के लिए उससे फँसता-फँसता चला जाता है। यदि गृहस्थी का निर्माण नहीं होता, तो जिस तरह साँप हरएक ठूँठ पर लिपट जाता है, उसी तरह पुरुष हर एक नारी पर अधिकार जमा लेने की कोशिश करता। यह गृहस्थी का निर्माण करना तो हमने पक्षियों से सीखा है।"

"पक्षियों से।"

"इसमें आश्चर्य क्या है! कबूतर का जोड़ा तूने नहीं देखा। वैसा आदर्श जोड़ा और नहीं मिलेगा। एक और सुन्दर पक्षी होता है। उसका नर एक घोंसला बनाता है। उसके लुभावने ढाँचे पर बहुत-सी मादायें रीझकर उसमें आती हैं। एक बावली बनकर उसमें टिक जाती है। उसके बाद उनका नया जीवन शुरू हो जाता है।"

"हमें पशु-पक्षियों के जीवन से सम्बन्धित मनोविज्ञान से आखिर कितना सरोकार है। यह सब तो एक बकवाद-सा लगता है।"

"तो क्या मैं यह सब बेकार कहा करता हूँ!" ज्ञानू जोर से तीक्ष्ण हँसी हँस पड़ा। वह ध्वनि उन सुकुमार सङ्गमरमर की मूर्तियों से फिसल कर दीवाल से टकरा, खिलखिलाती लगी। और क्या मैंने उन मूर्त्तियों को छूकर नहीं देखा था। वह स्पर्श दिल पर अनायास एक गुदगुदी फैला देता। इसीलिए कोई भी उत्तर मैंने नहीं दिया।

अपना कहना फिर भी उसने जारी रखा, "दुनिया के भीतरवाले व्यापार की अधिक जानकारी हम लोगों को नहीं है। बहुत-सी बातों का अन्वेषण करते करते व्यक्ति मिट गये—पाया है शून्य! इस गृहस्थी की स्थापना की कहानियाँ भी अजीब-अजीब हैं। खासकर पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि के रोजाना जीवन को असाधारण रूप में बिसारा नहीं जा सकता है। मधुमक्खियाँ हैं, उनमें एक नर और रानी मिलकर गृहस्थी चलाते हैं। बाकी सब हैं मजदूर। वह नर भी जरूरत के बाद नष्ट कर दिया जाता है। अपनी-अपनी रक्षा का सवाल उठाकर, चिड़ियाँ, घोंसले बनाती हैं, पशु खोहों व झाड़ियों में रहते हैं। मछलियाँ हैं, मादा अण्डे देकर भाग जाती है। उसका नर अंडों को सेता है। एक-पक्षी होता है, वह अपना घोंसला पेड़ के तने के भीतर बनावेगा। जब मादा गर्भवती होगी, वह भीतर ही बैठी रहेगी। नर घोंसले का मुँह चोंच जाने लायक छोड़कर, बाकी मिट्टी से बन्द कर देता है। बस, रोज अपनी चोंच को भीतर डाल, इसी तरह एक अरसे तक नर, मादा को खाना खिलाया करता है। पशु पक्षियों में एक मौसम आता है। उन दिनों मादा बहुत भावुक बन जाती है। अपनी रक्षा का सारा भार ही उसे पुरुष को सौंपना होता है। अपनी इस मजबूरी के लिए कुछ एतराज नहीं बरतती है। मांसाहारी पेड़ हैं!"

ज्ञानू अधिक न बोल सका। वह बात को तोल रहा था। देखा ही मैंने, अब वह कहीं भी सरल नहीं रह गया है। चेहरे पर उगे बालों की

काली-हरी झाँई पड़ी हुई थी। दृढ़ था और कट्टर! उसे जीवन में डर कभी नहीं रहा। लेकिन उसका चुपचाप रहना डसने लगा। वह चुप क्यों हो गया। अधूरी बात सुना, क्यों चिन्तित हो उठा है। मैंने सन्नाटा तोड़ते हुए पूछ ही डाला, "क्या तुम कह रहे थे, पेड़ों के बारे में।"

"ओफ, मैं भूल गया था। आजकल वैसे मैं बहुत सीमित हो गया हूँ। हरएक व्यक्ति भारी अनुभवों के बाद यही करेगा। तब उसे यह जरूरी नहीं रह जाता कि छोटी-छोटी बातों की दलील में पड़ कर, अपनी निजी राय दे दे। मैंने तो एक लम्बा अरसा नारी-कोमलता को छू और परख लेने में गँवाया है। वह समझना सहल नहीं है। नारी और पुरुष की हड्डियों की चिकनाहट में अन्तर होता है। उसी तरह जानवरों में भी मादाओं की हड्डियों में फासफोरस की मात्रा बहुत कम होती है। पुरुष और पशु-पक्षियों के नर, लड़ाई लड़ने के लिए हर वक्त तैयार मिलेंगे। यह रक्षा करने का तकाजा है। इसीलिए उनकी हड्डियों में चूना भी अधिक होता है। वे मजबूत तो होती ही हैं। तब तो .. ...।"

"और वह मांसाहारी पेड़!"

"सच पूछ, विचित्र है इस विश्व का रोजगार। वे पेड़ अपने पत्तों को फैलाये रहते हैं। जैसे ही कोई हिरन अथवा और कोई जानवर नजदीक आया की चारों ओर से पत्ते उसे ढक लेते हैं। उनमें छुपे काँटे शरीर में पैठ, खून चूसना शुरू कर देते हैं। आखिर जब वह मर जाता है, उसे छोड़ देते हैं। यही है हिंसा का आरम्भ!"

"तब हिंसा की जरूरत है न?"

"हिंसा!" भारी ठहाके के साथ ज्ञानू हँसा। और असमञ्जस में मैं उसे देखता ही रह गया कि बात क्या है! मनुष्य, पशु-पक्षी और उनकी धारणाओं पर खोज करनेवाले व्यक्ति पर कोई राय देना व्यर्थ लगती है। किसी सही आधार को जाने बिना, आखिर दलील करना ठीक नहीं होगा। अप्रतिम इसीलिए उसकी हँसी से नहीं हुआ।

यदि वह चुपके ही कह देता, 'देख, यह है मौत !' भले ही मैं अपनी आँखों की दृष्टि में उस मौत को नहीं पकड़ पाता, मुझे उसकी बात पर विश्वास ही कर लेना था। यह मुमकिन हो चाहे नहीं, अपना अनुरोध सकारण पेश करने में मैं उतावला नहीं होता हूँ।

लेकिन मेरे उस चुप रहने को साध्य मान, उपयोग वह साबित करने में नहीं चूकता ; 'नहीं देख रहा है, तू मौत को—बावला कहीं का। अरे, वह तो एक चमक है। बहुत सूक्ष्म ! जो हवा में हर वक्त तैरती रहती है। वह ईश्वर से भी हल्की होती है। उसका रुख इसीलिए एक ओर नहीं रह जाता। यदि वातावरण और वायुमण्डल ठीक मिल गया, तब वह चमक तेज गति से फैलती है। हैजा, प्लेग व अन्य और रोगों के पैदा होने का यही कारण है। यह मनुष्य, पशु-पक्षी, मेढक-मछलियाँ आदि जातियाँ कुछ भी नहीं हैं। तोल किसी का कई मन होने पर भी सच देखा जाय तो, वैज्ञानिक की दृष्टि में अधिक मूल्यवान् नहीं है। अन्त में चूना, लोहा, फासफोरस, रेडियम, ताँबा आदि-आदि धातुयें व उनके क्षार की ढेरी में बच जाते हैं। किसी धातु की कमी का नाम ही है—मौत ! तब क्या खिलवाड़ है यह जीवन !!'

मैं मौत भी स्वीकार कर लेने को तैयार हूँ; यदि ज्ञानू उसे अपनी जानकारी की प्रवीणता में सँभालकर रख लेता। न मैं शक्ति-प्रयोग की ओर उदासीन रहना जानता हूँ। शक्ति-प्रयोग रुकावट और अड़चन को हटाने का अक्सर सही हथियार है। तब कौन उसे साध्य नहीं गिनना चाहेगा।

वह ज्ञानू तो उठकर टहलने लग गया और टहलता ही रहा। परेशान जैसे कि अपने दिल में हो। या कोई भारी उलझन मन में विद्रोह उड़ेलने को तुली थी। अपने कर्तव्य को बिसार, मैंने सवाल किया ही, "क्यों, बात क्या है। तुम तो.....?"

"नहीं-नहीं", वह भारी आवाज में बोला, "यह धन्धा कोई अजनबी नहीं है। आदिकाल से पशु-पक्षियों में यह चालू है। उसका उपयोग है

शारीरिक और मानसिक भूख का साधन ढूँढ़ लेना। यही पुरुष में भी विद्यमान है। अपनी हिफाजत के लिए वह उसे चाहिए। कुदरत ने नारी को फिर भी न जाने क्यों हिंसा दी है। कभी-कभी तो अपनी हिंसा में गलती से खुद ही चूर-चूर हो, वह चख जाती है।"

"नारी की वह हिंसा न!"

"नारी के खून में सुफेद कण, लाल कणों से अधिक होते हैं। यह जरूरी भी है। उन्हीं से भावुकता सम्बन्धित है। यही भावुकता नारी में मातृत्व की चाहना लाती है। नहीं तो नारी अपनी कोमलता के घमण्ड में पुरुष को ठुकराती-ठुकराती चली जाती। उसका अनुरोध भी सिर्फ आँसुओं पर निर्भर रहता है। इसे हम कर्त्ता का न्याय कह सकते हैं। पुरुष का भला कौन-सा स्वार्थ नहीं होता। नारी में हिंसा उठनी भी लाजिम है। वह उसकी शक्ति है। नहीं तो कभी भी उसकी कमजोरी साबित हो जाती। शारीरिक आकर्षण के अलावा, पुरुष नहीं तो उसे अलग फेंक देता। वह हितकर नहीं होता। इसी तरह दुनिया का विकास जारी है।"

"हिंसा के इस पहलू को लेकर क्या होगा फिर?"

"ठीक बात पूछी है तूने। तब सुन, मांसहारी पेड़ माँस खाते हैं। यदि वे मांसहारी जानवरों का खून चूसते हैं, तो मुरझा जाते हैं। उसे पचा नहीं सकते। वह बहुत गरम होता है। इसी तरह मांसाहारी जानवर, मांस न खाने वाले जानवरों का शिकार करते हैं।"

ज्ञानू ने आँखें मूँद लीं। अपने भीतर कुछ कुरेदता-सा लगा। कहीं आखिर जीवन में खुरचन पड़ गयी थी। क्यों वह कमरे के भीतर फैले प्रकाश के विपरीत, आँखें मूँद कर कुछ टटोल लेना चाहता था। यह व्यक्ति की थोथी और उलझनवाली अवस्था सर्वदा से उसे पीड़ा पहुँचाती आयी है। यह सब सुनकर अपने भीतर मैं स्वस्थ नहीं हुआ। तभी देखा मैंने कि दीवाल पर एक सुन्दर केलेण्डर टँगा हुआ है। रोज की तारीखों के अलावा, उस पर एक रङ्गीन चित्र भी था। वह चित्र :

एक युवती ध्यानमग्न, भूरे बालोंवाले कुत्ते के बच्चे से गोदी भरे, हाथों के सहारे उसे अपने हृदय से लगाये थी। भारी तृष्णा उस लड़की की आँखों में मिली। उसका आकांक्षित अनुग्रह व शारीरिक आकर्षण का लुभाव बहुत जीवित जान पड़ा। यह लगा कि वह कुछ खोकर अपना सारा अपनत्व बिसार बैठी है। अन्यथा उस तरह उस कुत्ते के बच्चे को क्यों लिये रहती। पशु जाति के प्रति उदारतावाले मोह पर कौन अधिक विचार कर सका है।

"क्या देख रहा है तू?" ज्ञानू ने पकड़ लिया।

"कुछ नहीं।"

"झूठ है बात। वह कुत्ते का बच्चा है। उसकी आँखोंवाला भाव क्या तूने समझ लिया है। कितना कुतूहल है उन आँखों में। ऐसी ही भावना हरएक जाति के बच्चों में होती है, वे बच्चे सबको प्यारे लगते हैं। समझ का आना ही सतर्कता और सावधानी सिखलाता है। तभी अपने निज का सवाल आगे आता है। यह अपने-अपने वैयक्तिक सवाल पर निर्भर रहता है।"

"वह कुत्ते का बच्चा क्यों लिये हुए है?"

"तू नहीं समझ सका है!"

"नहीं तो?"

"वह एक सम्भव-प्रेम को खोकर, अपने प्रेमी की भद्दी आकृति उस सुकुमारता से बिसार रही है। इस तरह नूतन विचार आते हैं।"

"उसका प्रेमी होगा?"

"अरे, प्रेम कोई शारीरिक नाता ही कब है। हरएक को हक है कि वह किसी को प्यार कर ले। वैसे असली प्रेम तो जीवन में, एक बार चिट्ठी लकीर की तरह चमककर सर्वदा के लिए बुझ जाता है। बाकी तो उसका विद्रोह बचता है, जो छटपटाहट, विकलता और असन्तोष का एक माध्यम है। इस विद्रोह के आधार पर ही दुनिया टिकी है। और आदमी तो समय के रेगिस्तान पर बनी हुई एक पिट्ठी

लकीर पर मजबूरी से चलता है। रुकावट पड़े, कौन-सा मतलब है उसका ! भाग्य तो चुपचाप जम्हाई लेता हुआ पड़ा रह जाता है। लेकिन उस विद्रोह में भी कोमलता है। उसको देती है नारी ही !"

"विद्रोह की कोमलता और नारी ?"

"तब मेरा अपना पागलपन इसे समझ। दुनिया में छानबीन और देखभाल कर मैंने यह सब अन्दाज लगाया है। किसी का संसार जेल की पक्की ऊँची दीवार की तरह सीमित है। कोई रहट के बैलों की तरह आँखों में पट्टी बाँधकर मीलों का सफर तय कर लेते हैं। कुछ का मन ही उसकी दुनिया है—वहीं वे घूमते हैं। आजमायी बात सर्वदा से उपयोगी सिद्ध हुई। यह है मन का कोमल व्यभिचार।"

"मन का व्यभिचार ! भ्रष्ट विचार सब हैं ज्ञानू।" मैं कह ही बैठा। इस तरह की बातें मुझे सह्य नहीं हैं। मैं वैसे थोथी नैतिकता का कायल नहीं। उसे अधिक दलील का विषय बनाना फिर भी हितकर नहीं। अर्थहीन धारणाओं का नतीजा कुछ नहीं होता।

और ज्ञानू कुछ नहीं बोला। उसने उठकर उस कैलेन्डर को छू लिया। तस्वीर वाले फर्श को रगड़ने लगा। कुत्ते के भूरे बालों को जैसे कि सहला रहा हो। उसका मुँह मुरझा गया था। उसके चेहरे पर फैलाती हुई उदासी मैंने भाँप ली। सावधानी से वह मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया। मेरी ठोड़ी को ऊपर आसमान की ओर उठा, कई मिनट तक उसी तरह मेरे चेहरे को पढ़ता रहा। उसकी वह हालत मेरी समझ में नहीं आयी। मैं चुप फिर भी रह गया।

अब वह मुझे छोड़कर हट गया। फिर दरवाजे तक बढ़ा। बाहर सड़क की ओर टकटकी लगाकर न जाने क्या देखता रहा। उसकी जानकारी के अवलम्बन के खिलाफ मैंने कोई इच्छा सीमित नहीं की हठात् वह दौड़ा-दौड़ा मेरे पास आकर ठहर गया। साँस तेज चल रही थी। मुझे टटोलकर पूछा, "क्या सच ही मैं पागल हूँ। यही लगता है। तू डाक्टर बुला ला। यह बात मैंने अभी-अभी जानी

है। अब तू जा। मेरे नजदीक किसी का रहना खतरे से खाली नहीं है। न जाने कब मेरा विद्रोह हिंसा बन जाय। मैं हरएक वस्तु का उपयोग, उसे नष्ट करना ही समझ रहा हूँ।"

"ज्ञानू।"

"तब मुझे क्यों घूर रहा है?"

"मैं!"

"क्या मैं पागल हो गया हूँ?"

"तुम पागल!"

"तू क्या समझता है मुझे?"

"ज्ञानू को—ज्ञानू ही।"

"तो मैं ही न वह ज्ञानू नामक व्यक्ति हूँ। मेरा अस्तित्व कुछ नहीं है। व्यक्ति के ऊपर नाम की तख्ती भी उसके जीवनकाल तक ही मिलेगी। उसके बाद सब झूठ है। जानता है, मैंने अभी बाहर सड़क पर क्या देखा है?"

"तुमने!"

"उस चौड़ी सड़क पर, दुनिया का रोजाना हाल देख रहा था। वह नुक्कड़ पर पानवाला बैठता है, सामने लाल लेटर-बाक्स है और उधर!"

"तो मतलब क्या है, उन सबसे?"

"शायद तू नहीं जानता कि सरपट इस दुनिया में आदमी कितना ही भागता रहे, उसका भी अन्त है। उसके बाद .....! जिस कोमलता का अनुभव मुझे है, वह बहुत तीक्ष्ण और तीखी है। एक रोगी को मैंने देखा था। उसका अपना कोई भी प्रतिदान रोग के लिए नहीं था। उसकी एक भावुक प्रेमिका थी। वह वेश्या रोगिणी रहकर, अपने प्रेमियों का उस 'कोमल रोग' से वञ्चित नहीं रख सकी। भावुक व्यक्तियों को यह रोग जल्दी घेरता है।"

"आखिर तुम चाहते क्या हो?"

"मैं !"

"तब क्या झूठ कहता फिरूँ ?"

"अपने मन में तुम्हारा इतना लोभ क्यों है ।"

"यह मैंने कभी भी अस्वीकार नहीं किया है। जब मैं समझदार हो रहा था, एक नारी मेरे पास आयी और इससे पहले कि मैं सब बातें समझ लूँ, वह भाग गयी थी। वह डर गयी कि मैं उसकी कोमलता को पहचान गया हूँ। उस लड़की का ध्यान एक अरसे तक मुझे रहा, वह भूल नहीं बन सकी। सारे शरीर की पहचान को भूलकर भी, अर्धचेतन दिमाग में चेहरे की याद उभर आती थी। उसके बाद मुझे नारी को खूब-खूब देखने का मौका मिला है। कोई-न-कोई तत्त्व उसमें था ही। नारी फौलाद की तरह कड़ी नहीं होती है। मैंने मोम की तरह पिघल जाने वाले गुण, नारियों में अधिक पाये हैं। इसीलिए भय मेरे दिल में पैदा हो गया। उन दिनों जीवन और दुनिया के वास्ते को तोलनेवाला कोई भी बाँट मेरे पास नहीं था। और अपने ढाँचे पर आखिरी ठीक रूप फैलाने के लिए, उन दिनों मैं एक लड़की के पोज ले रहा था। उसकी झुँझलाहट में मैंने पाया कि वह मेरे बहुत समीप आ दिल को छू लेती है। मैं जीवन में मिलावट का आदी नहीं हूँ। न नकली जीवन को अपेक्षित गिनता हूँ। मेरे और उस लड़की के बीच, सङ्गमरमर का ढाँचा ही एक मार्फत रहा है। वह मूर्ति ठीक बन भी नहीं पायी थी कि मैंने सुना उस लड़की के चेचक फूट निकली है। उसके चेहरे पर भी भद्दे-भद्दे दाग छूट गये थे। वह बदसूरती आखरी, लौटकर मैंने अपनी मूर्ति के चेहरे पर भी गुस्से में छेनी से गड्ढे बनाने शुरू कर दिये। वह मेरी अजीब भावुकता थी। अन्यथा यह असफल प्रयास नहीं करता। क्या मैं यह नहीं जानता हूँ कि जिन वस्तुओं और व्यक्तियों की भावना से कलाकार चीजें गढ़ते हैं, वह फिर जूठी हो जाती हैं। व्यक्ति को कला ढक लेती है। वह मूर्ति भले ही मूल्यवान् हो, वे व्यक्ति नहीं होते। सकारण वे साधारण श्रेणी में गिनी जाती हैं। कला-

कार के इस विद्रोह को अपने में सुलगाकर, पग-पग पर मुझे डर लगता चला गया कि मैं नष्ट की भावना क्यों अपने पर लागू करना चाहता हूँ।"

"नारी जाति की कोमलता का तुम्हारा यह बहाना है।"

"मैं इसे साध्य कब मानता हूँ। कारण कि जीवित नारी से, मुर्दा नारी के शरीर में कोमलता अधिक होती है। तब उसमें हठवाली समीक्षा कहाँ बाकी बचती है। उसी बात को अकाट्य फिलहाल मैंने मान लिया है। यह मेरे अपनी कोई तृष्णा नहीं है। एक ख्वाहिश यह जरूर है कि नारी की समूची कोमलता को सँवार, एक मूर्ति गढ़ूँगा। वही होगी मौत की सही प्रतीक! तो भी आनाकानी कोई नहीं है। मैं सैकड़ों नारी-शरीरों को सहला चुका हूँ। पशु-पक्षियों की मादाओं की कोमलता की जाँच भी मैंने की है। नारी-स्वभाव परखना, पहले जितना कठिन मालूम होता था, आज वह बात नहीं है। सब आसान ही है। उसके संस्कारों में चापलूसी अधिक मिलेगी। लेकिन पुरुष के शरीर में लोहा अधिक होता है, जब कि नारी अधिक झागों की बनी है। यह असमञ्जस का सवाल नहीं!"

अधिक कुछ भी न कहकर, ज्ञानू एक झरोखे से उठ कर मेरे पास आया और बोला, "चल, तुझे चाय पिला लाऊँ। भूख भी लग गयी होगी। यह काम तुझे सहल नहीं लग रहा होगा। लेकिन डाक्टरों को ही न देखा कर, वे आपरेशन करते हैं। उनकी व्यवस्था है कि रोग को ठीक-ठीक पहचान लें। मैं भी वैसा ही हूँ। जहाँ पर डाक्टर मुर्दा को छोड़ देते हैं, वहीं से मैं आदमी को उठा लाता हूँ। यह तो अपने अपने व्यक्तित्व का सवाल है ही।"

अब मैं और ज्ञानू एक रिस्तोराँ में पहुँचागये थे। उसने भीतर पहुँचकर भारी आवाज में पुकारा, 'ब्वाय! ब्वाय!!"

उसके आने पर पूछा, "मदिरा' होगी। और एक चाय का केटल भी ले आना।"

"चाय और शराब !" अचरज से मैंने उसकी ओर देखा।

"ठीक होता है—यह पेय द्रव्य आज चखकर देख लेना। इसके बाद दिमाग पर बाहरी प्रभाव नहीं पड़ता है।"

सच ही उसने एक गिलास पर चाय उडेल, उसमें दो पेग शराब के भी मिला दिये। सौंपते कहा मुझसे, "ले इसे चुपके पीजा। क्या समझेगा कि सोमरस तुझे पिला रहा हूँ। हरएक को यह प्राप्त नहीं होता है। न इस नुस्खे का ज्ञान, मेरे अलावा किसी और को ही है।"

सब पीकर मैं बोला, "एक बात पूछूँ ज्ञानू।"

"क्या है ?"

"तू प्रेम पर विश्वास करता है।"

"क्यों, क्या बात है।"

"मेरे दिल में तो लड़कियों का रूप-रङ्ग, बार-बार, अनायास ही न-जाने क्यों उभर उठता है।"

"कारण कि तू नारी को धब्बा मानता है।"

"धब्बा"

"नारी को जीवन में धब्बे की तरह टटोलने का ख्याल फिर मन में क्यों लाता है ! उसकी किसी सजावट से उत्तेजित हो जाना, गलत है।'।

"मैं तो.....!"

जाने दे सारी दलील को। एक गिलास और तेरे लिए बनाता हूँ—पी जा। स्वास्थ्य के लिए लाभदायक चीज है।"

ज्ञानू की बात स्वीकार करनी पड़ी। वह दुनिया को जिस तरह चाहे, उसी रुख में बदलने का दावा भी किसी दिन कर, उसी को अमल में लाता हुआ मिलेगा। वह मिथ्या को सम्भव कहकर, एकाएक सब बातें जड़ की तरह कड़ी तो मानता ही है। तो भी सब निराधार नहीं।"

अपनी ओर से कुछ भी अधिक न कह, मैं चुपचाप चला गया। ज्ञानू की आज्ञा कि कभी-कभी उससे मिल लिया करूँ, मैंने मान ली थी।

आगे जब भी मैं गया, देखता था कि ज्ञानू अपने काम में मशगूल है। एक बड़ा सङ्गमरमर का टुकड़ा लेकर, खट-खट खट उस पर छेनी चलाना ही बाकी काम रह गया था। उस ऊँचे पत्थर पर एक आकृति भी बनती मैं पाता। कभी-कभी तो देखता था कि वह नारी का एक ढाँचा बन रहा है—बिलकुल नग्न! ज्ञानू अपने काम में ही मशगूल मिलता। उसे कुछ भी समझाने की फुरसत नहीं थी।

—कुछ दिन कटे। ज्ञानू ने एक दिन मुझसे कहा, "देख, अब है न यह नारी का एक सही रूपक!"

देखा मैंने, वह ठीक बात थी; बड़ी-बड़ी आँखें, वक्षस्थल,—शरीर के सारे अङ्गों को देखकर आँखें ललचा जाती थीं।

ज्ञानू अधिक कुछ भी न कहकर अपने काम में लग जाता था। उसकी कला की सराहना मैंने कई बार मन ही मन की। चुप फिर भी रहा। सच ही वह अतुल रूपराशिवाली एक स्टैचू बना रहा था।

लेकिन उस दिन ज्ञानू के चेहरे पर मैंने भारी खुशी पायी। वह मुझे देख, गद्गद होकर बोला, "अब वह कोमलता मैंने पा ली है। यह देख—यह है न!"

उसकी आँखें स्थिर कभी तो रह जाती थीं। यह उसकी कैसी उत्प्रेक्षा थी। वह उस मूर्ति के आगे क्यों मूक खड़ा रह जाता था। एकाएक वह चौंक उठा। भारी घबराहट में मेरी ओर देखा। उसकी आँखें बुझ रही थीं। तब क्या बात होगी! मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाया था कि उसने बात शुरू की, "सब व्यर्थ है—व्यर्थ!"

"क्या हुआ।"

"तू नहीं देख रहा है।"

"मैं!"

"वह कोमलता, वासना बन रही है।"

"तुम तो कहते थे ...!"

"मैं कहता था—खाक, पत्थर! इस कोमलता और वासना के बीच कोई ठीक-सी सीमा नहीं निकली। कभी मैंने उस पर नहीं सोचा था। और अब तो.....!"

"क्यों, परेशानी क्या है?"

परेशानी! तू उसकी आँखें नहीं देख रहा है। भय वहाँ नहीं। जीतवाला कुतूहल है। वह मेरे दिल में धँसती जा रही है। उस चेष्टा में अपनाकर, मिटा डालनेवाले भाव स्पष्ट हैं।"

"मुझे तो कुछ नहीं दीखता है।"

"आँखों की मादकता पर तेरा जो विश्वास है—ठीक ही था। भावुकता के चूक जाने के बाद उसकी जगह है।" कहकर वह मूर्ति के ओंठों को अपनी उँगलियों से रगड़ने लगा।

"क्या कर रहे हो ज्ञानू।" मैं कुछ न समझ कह बैठा।

"ये खुरखुरे हो गये हैं। मैंने कोमल बनाये थे।"

"कोमल थे ये।"

"यह मेरी असफलता है।"

"तेरी असफलता!"

"इस मूर्ति को नष्ट कर देना पड़ेगा।"

"नष्ट!"

"मेरी पहचान की एक युवती की मौत 'बेरबरी' से हुई थी। उसके ओंठ मौत के बाद खुरखुरे मैंने पाये थे।"

"लेकिन यह तो पत्थर है।"

"तो भी इसमें जीवन है।"

"कैसा जीवन!"

"छातियाँ मचल रही हैं। जैसे कि माँ बनने की उसकी ख्वाहिश हो। यह नारी के प्रति अन्याय है। उसकी कोमलता का साधारण

उपयोग कितना भद्दा है।"

"मैं कुछ नहीं समझ सका हूँ ज्ञानू।"

"वैसी कोई बात नहीं है। मैं खुद नारी के प्रभाव में दब गया। नहीं तो कोमलता के बाद मूर्तिवाली इस नारी में वासना की गति न आती। इसको सजीव बनाना ही मेरी असफलता है। इसे तू मेरी कला की मौत समझ ले। मैंने इसमें वासना का जाल फैलाकर, अब उसमें मक्खी की तरह फँसने का काम कर लिया है।"

"साफ-साफ बातें कहो न तुम!"

"यह भी भेद है, सुन तू! मूर्ति गढ़ते-गढ़ते, यह मुझसे बोलने लगी। तू शायद नहीं जानता कि इन मूर्तियों में भी आवाज होती है। छेनी की खन-खन में वह लक्षण मैंने पाकर, बात समझ ली। तब इसकी कोमलता पिघलने लगी। मैं अपने को जरा भी काबू में नहीं रख सका। फिर देखा मैंने कि उसकी छातियों पर भरा दूध, मवाद बनकर बह रहा है। अनायास मेरे दिमाग में एक स्मृति फैल गयी। हमारे पड़ोस की एक लड़की की मौत छाती के दूध के मवाद में कीड़े पड़ जाने से हुई थी। यह सब पाकर मैं काँप उठा। और वह लड़की घाट पर भी मैंने देखी थी। उसकी छातियों के उपर लकड़ी चुनते में झिझक उठा था। इसमें मातृत्व की चाहना है। वह वासना के बाद का अध्याय समझ!"

यह कह कर ज्ञानू उदास हो गया। मैं चुपचाप बैठा रहा। मेरे मन में बहुत-सी बातें उठ रही थीं। तभी मैंने देखा कि ज्ञानू जोर-जोर से उस मूर्ति पर छेनी चला रहा था। उसके इस कर्तव्य को मैं देखता-देखता ही रह गया। कुछ भी कहने का जैसे कि अपना मेरा कोई भी अधिकार नहीं हो। छेनी की तेज आवाज के बीच फिर भी मैं बोल ही बैठा, "इसे नष्ट क्यों कर रहे हो।"

"नष्ट!"

"बड़ी प्यारी लगती है वह।"

"वह प्यार कठोर है।"

"तुम तो कोमल उसे कहते थे।"

"वह कोमलता मौत निकली।"

"मौत!"

"एक वैज्ञानिक की बात, धातु ही सब कुछ हैं। उनके बल पर इन्सान और हैवान, दोनों खड़े हो जाते हैं।"

"यह तुम्हारी अनधिकार-चेष्टा है।"

"मेरी।" कहकर वह छेनी और जोर-जोर से चलाकर मूर्ति को नष्ट करने लग गया। अब देखा ही मैंने कि वह सङ्गमरमर के टुकड़ों के बीच थका हुआ-सा बैठा था। बोला मुझसे, "बैठ जा तू भी।"

मैं बैठ गया।

ज्ञानू सुस्त पड़ गया था। इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ, लाचार होकर वह बोला, "यह मेरी सनक थी कि जीवन की सबसे प्यारी चीज बनाकर, उसे नष्ट कर डाला है। वह मेरी मौत थी।"

"मौत.....!"

लेकिन इससे पहले ही मैंने पाया कि ज्ञानू बाहर चला गया था।

चित्रकार और शिल्पी

क्लब में सब यार-दोस्त जुड़े थे। चाय, ब्रिज, सोलो, कैरम; यह सब चालू था। एक ओर वाचनालय की कुर्सियों पर बैठे हुए लोग अखबार पढ़ने में लीन थे। दूसरी ओर लाइब्रेरी की बेञ्चें भी खाली न थीं।

एकाएक ब्रिज-टेबुल से ठहाका मचा, सब हँसने लगे। इधर-उधर के लोग भी जमा हो गये। बात यह थी कि शिल्पी सुरेन्द्र आज पहिले-पहल 'स्टेक' पर ब्रिज खेलने को राजी हुआ था। साथ ही वह चित्रकार मनोहर का साथी था।

खेल शुरू हुआ और चलता रहा। दो 'रबर' के बाद एकाएक सुरेन्द्र उठा और पैसे चुकाते हुआ बोला, "बस!"

मनोहर ने कहा, "हिम्मत हार गये यार।"

लेकिन सुरेन्द्र अब खेलना ही चाहता था। उसने कहा, "यह बात नहीं है। कल सही।"

लोगों ने ज्यादा जोर नहीं दिया।

करीबन् ६॥ बज गये थे। एकाएक मिस शीला ने कहा, "क्लब-घर में सब कुछ है, लेकिन मि० सुरेन्द्र और मनोहर दुनिया-भर को सब कुछ देकर भी क्या हमें कोरा ही रखेंगे।"

सब लोग जैसे सोते से जाग पड़े। यह तय हुआ, दोनों को दो माह का मौका दिया जावे कि कुछ क्लब को दे सकें।

शिल्पी और चित्रकार राजी हो गये।

सुरेन्द्र और मनोहर सगे दोस्त हैं। दोनों कलाकार साथ-साथ रहते हैं। उस रात्रि क्लब से लौटकर दोनों बड़ी रात तक बातें करते रहे। अगली सुबह बड़े कमरे के बीच में पर्दा डाला गया। शर्त हुई कि दोनों साथ-साथ काम करेंगे। एक-दूसरे की चीज को बिना

पूरी हुए न देखेंगे। न आपस में कुछ बात करेंगे कि भाव इधर-उधर बदलें।

दूसरी सुबह दोनों उठे। शिल्पी घूमने बाहर निकला और चित्रकार भी। कुछ दूरी तक दोनों साथ-साथ गये। अब शिल्पी ने जङ्गल की राह पकड़ी और चित्रकार ने शहर की।

चित्रकार :

मनोहर होटल पहुँचा। वहाँ उसने चाय मँगवायी और पी। चुपचाप चाय पीता रहा।

देखा, श्याम चला जा रहा था। पुकारा—श्याम ? श्याम ??

श्याम के आने पर कहा, "वाह यार, तुम भागे चले जा रहे थे।"

श्याम भी चाय में शामिल हुआ। श्याम ने पूछा, सुना "क्लब के लिए नया चित्र बना रहे हो।"

"नया.....!" उसने दुहराया। हँस पड़ा, "भई, कुछ भी नया नहीं। वह तो सब ठग लेने की बातें हैं। फेर-फार कर रङ्गों को अदल-बदल नयी चीज खुद ही बन जाती है।"

वह लौटकर कमरे में आया। आकर उसने 'कैनवास' को ठीक किया और उस पर पेन्सिल चलाने लगा। पेन्सिल चलती, जैसे कि कुछ निश्चित हो। कहीं भी कुछ सोचने-समझने का सवाल न था।

बीच-बीच में याद आता, कमला ने क्या कहा था, "वह तस्वीर ठीक नहीं। वह तो ज्यादा उभरी है। मैं कहाँ हूँ ऐसी।"

"कमला...।"

"देखो तुम ठगते हो। झूठे हो।"

"क्या तुम सच कहती हो कमला !"

"और नहीं.....! कहाँ हैं मेरे इतने लम्बे बाल ?"

वह कैसे समझाता कमला को कि उसने अपनी आँखों में उसे उतना ही पाया है। कमला मानेगी थोड़े ही। कमला क्या जाने कि

कलाकार आईने से भी साफ परछाँई उतार लेता है। वह नहीं जानती है कि वह कमला की तसवीर नहीं, मनोहर के दिल की भावना है।

"मैं ऐसे थोड़े ही बैठी थी।"

"शायद, तुम्हारा यही पोज आँखों को ठीक लगा हो। जो चीज भली लगती है, प्रभाव डालती है और पकड़ में आकर हृदय में टिक जाती है।"

"लेकिन.....!"

"लाओ कमला, तुम्हें पसन्द न हो, तो फाड़ डालें। कल तुम दूसरी तस्वीर खिंचवा लेना।" कह उसने तसवीर छीन लेनी चाही थी।

कमला उसे छुड़ाकर अन्दर चली गयी। लौटकर जब आयी, खाली थी। हँसती बोली, "फाड़ डालोगे, तुम्हारा क्या जाता है। लेकिन मुझे तो सात-आठ घण्टे गरदन-मरोड़ बैठक लगा लेने की फुरसत नहीं। तुम बड़े स्वार्थी हो।"

"स्वार्थी.....!"

"जानते हो न, कमला वैसे आवेगी नहीं। कोई बहाना तो चाहिए ही।"

"नहीं, यह बात नहीं। अब मैं तुम्हारी तसवीर वैसी ही बना सकता हूँ।"

"बना सकते हो.....!" कमला आश्चर्य से बोली थी।

—और चित्रकार की पेन्सिल ने एक बड़ा जाल 'कैनवास' पर फैलाना शुरू किया। अजीब-अजीब उलझी रेखायें! कुछ भी समझ में न आती थीं। वह खूब निश्चिन्त होकर जुटा था। इधर से देखता, उधर खड़ा होता।

सोचता : कमला सुन्दर न होती, तब! कमला की आँखों में। कमला की बातें। कमला का चित्र ही उसके जीवन की सफलता है।

उसने थककर पेन्सिल रख दी। चित्र को ढका। बाहर निकला और फिर होटल में पहुँचकर खाना खाने लगा। खाना खाते-खाते देखा,

लूसी मैनेजर से बातें कर रही है। वह पास आयी, बोली, "हलो आर्टिस्ट !"

उसने उसके लिए भी डिशें मँगवायीं और दोनों खाना खाने लगे।

लूसी बोली, " 'प्लाजा' में नया खेल आया है। आप चलेंगे।"

"कोई हर्ज नहीं।"

'और मेरी तसवीर.....?"

"तुम जानती हो।"

"ओ ! मुझे मालूम है। शीला कहती थी, आपने क्लब के लिए नयी चीज शुरू की है। क्या खयाल है ?"

"कुछ खास नहीं। जो बन जावे ठीक। मुझे एक बड़ी जिम्मेदारी तो निभानी नहीं है। वह तो एक बात की बात थी।"

सन्ध्या को वह लूसी के साथ सिनेमा गया। लौटकर निश्चिन्त सो गया।

शिल्पी :

सुरेन्द्र चुपचाप आगे बढ़ा। बढ़ा और बढ़ता ही चला गया। मन में कोई बात टिकती न थी। एक उलझन साथ थी। फिक्र घेरे थी। वह खुद समझ न सकता था।

वह रुक पड़ा और अन्दर बड़े फाटक से गया। देखा, चारों ओर कब्रें थीं।

एक कब्र के पास खड़ा हुआ, लिखा था:—

वैलिस, उम्र उन्तीस साल .....। एक अनाथ बच्चे को बचाते मोटर के नीचे दब कर मर गया।

वैलिस का एक खाका सामने आया। देखा उसने दूर बच्चे को गली में खेलते, फिर हार्न की 'पों-पों-पों'; आखिर वैलिस का भाग कर बच्चे को बचाना। वैलिस की लाश, खून में लथपथ भीगी.....!

वह पत्थर के पास ही घास पर बैठ गया। वह पत्थर जीवन का 'सिम्बोल' उसे लगा।

"आगे उसने देखी सुन्दर फूलों से घिरी दूसरी कब्र। लिखा था : प्रसिद्ध वैज्ञानिक '—'

फिर उसने तीसरी कब्र देखी ; छोटी और एक ओर से उजड़ी। नाम मिट चुका था। चूना जमीन पर गिर रहा था। लगा, चन्द दिनों में कब्र कहीं भी न रहेगी।

चौथी, पाँचवीं...,ग्यारहवीं! कितनी बड़ी दुनिया और उनकी यह यादगार, पत्थरों और अक्षरों में सीमित भर!

एक विद्रोह मन में उठा। वह चुपचाप लौट आया। होटल में अकेले कोने की मेज पर खाना खाया। जल्दी खा-पीकर डेरे पहुँचा। लेट गया। मन अच्छा नहीं था, चुपचाप सो गया।

दिन-भर सोया रहा। साँझ को फिर घूमने निकला। कब्रिस्तान के पास पहुँचा। धीरे-धीरे अंधियारा हो आया था। एक-एक कर सब कब्रें छुपने लगी थीं। सोचा उसने, सारी दुनिया भी छुप जावेगी एक दिन।

रात्रि को उसने एक अच्छा पत्थर निकाला। उसे टिकाया और छेनी चलाने लगा। सावधानी से काट-छाँट करता, जैसे कि जरा गलती पर वह हार सकता हो। मन माफिक चीज उतार लेने की तीव्र अभिलाषा बार-बार दिल में उठती थी।

छेनी चलती, पत्थर की छोटी-छोटी कनें कमरे में इधर-उधर बिखरतीं। वह छेनी सावधानी से चलाता, ज़ोर से चलाते हुए डर लगता था।

हाथ थक गया। उसे याद आया—प्रसिद्ध वैज्ञानिक, उसकी कब्र, उस पर लिखी लिखावट।

वैज्ञानिक जब प्रयोगशाला में अपना काम करता रहा होगा, क्या-क्या उसने नहीं सोचा होगा। आज वह भी एक मात्र प्रयोग रहकर

खतम हो कर मर गया—मिट गया, चला गया। सिर्फ लिखावट और पत्थर में सीमित रह गया। न लेबोरेटरी ने साथ दिया, न औजारों ने और न उतने बड़े दिमाग ने ही! सब धूल में मिल गया।

और छेनी चली। उधर जोर लग जाने से टूट न जावे। उसने जाँचा, बारीक छेनी निकाली, फिर उसे रगड़ा। दूर हटकर कोणों पर विचार किया, नाम लिया और एक-एक बात तोली। कहीं भी कुछ कमी न थी; फिर भी मन में सन्देह उठता था। हर बार एक बहम-सा होता, जो हटता नहीं था।

फिर चूना, टूटती वह कब्र! छेनी जोर से नहीं चलानी चाहिए। यहाँ पर ठीक नहीं। यह उसने कैसी मुसीबत ले ली है। यह कलाकार होना उसे परेशान करता है।

दुनिया-भर की कब्रों की जिम्मेदारी भी बुरी नहीं। हर मनुष्य को पहचान लेने का वह बुरा साधन बन रहा है।

खुट, खुट, खुट.....खन, खन, खन.....चलती छेनी। यह कैसा अंधकार था जो कि बिलकुल बेकार का सा सवाल लाता। कब्र, छेनी, मूर्त्ति—क्या यह सब सारी दुनिया को निगल लेंगी।

उसने छेनी एक ओर सँवारकर रख दी और हँस पड़ा। सोचा कि यह भावुकता का सवाल नहीं है। कुछ भाव व्यक्त होंगे और होकर ही रहेंगे—यह चालू ही सही।

उसने मूर्त्ति को काले परदे से ढक लिया। चुपचाप सोने चला गया।

रोज ही दोनों काम करते थे। अपना-अपना दायरा था, सीमा थी और स्थान था। शिल्पी को समाज से अलग रहने की फिक्र थी। वह अपने में ही चलता-फिरता कुछ सोच लेता था। इधर-उधर बाहर कहीं न जाता। उसका स्वाभाव गम्भीर होता चला जा रहा था। वह हँसता नहीं था। बहुत कम बोलता था। सभा और समाज से उसे नफरत हो

आयी थी। वह कुछ ऐसी चीज पा लेना चाहता था, जो उसकी उलझनों को हटा देगी।

चित्रकार के पास काफी खाली वक्त था। रोज क्लब पहुँचता। होटल में दो-चार पेग भी लगा लेता। मित्रों से हँस-हँसकर बातें करता—जैसे वह बिलकुल पहला ही हो। चित्र के बारे में कहता—वह कोई खास सूझ नहीं, न मौलिक ही है। आखिरी वक्त तक नहीं कह सकता कि क्या रूप ले लेगी। रोज ब्रिज खेलता। जीते पैसों को वहीं बैठ कर चाय-पानी में उड़ा डालता। कहीं कोई अन्तर उसमें न मिलता था।

चौबीसवें दिन :

चित्रकार कमला के यहाँ पहुँचा। कमला बाग में टहल रही थी। मनोहर को देखते ही दौड़ी-दौड़ी आयी। बोली, "बड़ी सुबह चले आये।"

"कल भूखे रहने की नौबत आ गयी।"

भूखे रहने की.....!"

"हाँ, चित्र बनाते-बनाते कुछ सूझा नहीं और बड़ी रात बीत गयी। जब कुछ नहीं दीखा, सोचा अब बेकार है। उस अँधियारे में ही चित्र को देखता रह गया। जब भूख लगी, तब मालूम हुआ कि बारह बज गये हैं। भूख का तकाजा हुआ और होटल चलने का सवाल उठा। पाँवों में जवाब दिया, वहाँ जाकर क्या करोगे? खाना नहीं मिलेगा। पेट का कहना था—कोशिश तो हरएक मनुष्य करता है। खैर, होटल पहुँचा, वहाँ आखिरी 'प्लेटें' धुल रही थीं।" कह कर मनोहर हंस पड़ा।

"चलो बैठो।" कमला बोली।

दोनों कमरे में बैठ गये। कमला उठी, कहा, "चाय बनवाने को कह दूँ।"

कुछ देर में लौट कर आयी नौकर ने सामान मेज पर लगाया।

मनोहर ने बिस्कुट उठाया—खा गया।

कमला चुप खड़ी थी।

मनोहर बोला, "बैठो कमला।"

कमला बैठ गयी।

"मौन व्रत ले लिया। चाय नहीं पीओगी?"

कमला ने चाय प्याले में निकाली और पीने लगी। फिर टोस्ट मुँह में ठूँस लिया।

मनोहर बोला, "सोचता हूँ—चाय की प्याली उठाये तुम्हारा चित्र बनाकर ही दे दूँ.....! वह उपयुक्त भी होगा।"

"कभी कुछ और भी सोचते हो, या.....।"

"तू ही बता न, क्या सोचा करूँ?"

"क्या.....?" कमला खुद न जानती थी। न जान लेने की फिक्र में थी।

"खैर, तुम राजी हो न।"

"जैसे मैंने ही ठेका ले लिया है।"

"तुम क्या समझती हो। अब क्या कोई ठेकेदार मुझे ले लेगा।"

"तुम यह क्या कहते हो।"

"इसका जवाब मेरे पास नहीं।"

"फिर भी....."

"कही बात मिट जाता है, न कही अन्दर ही अन्दर कुरेदती तो रहती है।"

"न कहो फिर।" कह कर कमला अन्दर चली गयी। कुछ देर में लौटी और पान ले आयी।

मनोहर ने पान चबाया—कड़वा।

"यह कड़वा है।"

"झूठ!"

"सच कहता हूँ कि कुनाइन मिलाकर लायी हो।"

"खूब, इसे ही क्यों कह दिया। अभी एक तर्क पेश किया और खुद अपने आप मिटा डाला। ऐसों का कोई एतबार नहीं।"

"तुम जीती.....।"

"यह शरमाने का अच्छा तरीका अख्तियार कर लिया है।"

"ठीक।"

"क्या कहते हो जी।" कह कर कमला ने 'टाफी' निकाली और दे दी।

मनोहर ने उस रात्रि अपने चित्र को काला-काला 'शेड' देते हुए सोचा—कमला की रूपरेखा पूरी भावना है। उसका एक 'पोज' उसकी जिन्दगी को चालू रखने को काफी है। कमला जीवन में न आती, तो वह कुछ न था। कमला की याद बार-बार आती थी। वह जामुनी साड़ी में अच्छी लगती है। वह उससे कहेगा—लाल जम्पर खिलता है। अपने मन की सब बातें वह व्यक्त करेगा।

और काला-काला शेड यहाँ गहरा होगा। वह लाइन मोटी होगी। यह पतली और यह रेखायें.....। ठीक, कमला जब चित्र देखेगी तो अवाक् रहेगी। तभी कमला सोचेगी—मनोहर सफल है। लेकिन कमला में कितना बचपन है। चित्र में भी कुछ वैसे भाव वह बिखेर सकता तो उसकी चित्रकला सफल हो जाती। बचपन अङ्कित कर लेने की भावना। कमला की एक-एक ठठोली! चित्र उसके बिना फीका लगेगा।

आसमान नीला-नीला...! नीला...नीला!! कूची चलेगी, आसमान बन जावेगा। कूची में नीलापन लिये हुए आसमान है। कैनवास पर आकाश—आसमान पर...।

आँखों में नींद और कमला की रूपरेखा थी। वह सो गया।

शिल्पी आज जरा देर से उठा। गङ्गा की ओर बढ़ गया। इधर-उधर घूमता फिरा। देखा उसने—सामने मरघट। मुर्दों की इधर-उधर फैली हुई हड्डियाँ। सामने रेत का एक बड़ा मैदान। नदी के किनारे

से लगा एक बच्चा—आँखें मुँदी, पेट फूला और नग्न। भूरे-भूरे बाल, छोटे-छोटे हाथ-पाँव.....।

आगे—हड्डियाँ। रीढ़ की हड्डी, कई अन्य गाँठें पड़ीं, एक दूसरे से जकड़ीं। उस पर फैली चपटी निकली हड्डियाँ। कुछ दूर आगे एक सिर; आँखों का गड्ढा, उस पर दाँत एक-दूसरे से लगे। माथे पर कुछ हल्की-हल्की लाइनें—कथित विधाता का लिखा भाग्य कि अन्त में नदी किनारे पड़ा रहना तू। वह लम्बा हाथ!

कुछ और आगे बढ़—सुलगती चिता, उस पर से निकलता हुआ धुआँ—चारों ओर सजी लकड़ियाँ। सोचा उसने जीवन की आखिरी 'फिलासफी' पर। सफेद सङ्गमरमर-सा पूरा सामने पड़ा हड्डियों का नरकङ्काल, क्या क्लब-घर लायक नहीं। वह क्यों बेकार मेहनत करता है। ले जाकर एक दिन दे दे न—यह लो। मेरी सामर्थ क्या, कुछ और बना सकूँ।

घर आ कर फिर उसने हथोड़ी चला कर खनखन शुरू किया। सोचा कि यह बड़ी नाजुक जगह है। यह मूर्ति बोलने लगी—बस, बस क्या सोचरहे हो। बस, बस, बस, हैं, इतनी गहरी चोट! गङ्गा-किनारे का-सा ढाँचा वह न बना सकेगा। नहीं, नहीं, क्यों धोके में है तू। बड़ा आया 'फिलासफर।'

छेनी रख दी, सोचा—हवा जब चली, तब हल्की-हल्की रेत उनको ढक लेती थी। आगे वह नग्न ही रह जाते थे। और वह क्यों दाँत बन्द लिए हुए रहा। दाँत खुले होते तो ठीक रहता। हँस पड़ा। खयाल आया—हवा जोर से चल पड़ी थी। उसने अपनी आँखें मूँदली थीं। आँखों की रेत से हिफाजत की थी। वह बच्चा पानी का खेल बना उठती लहर उसे किनारे रेत पर पटक देती। दूसरी बढ़कर उसे अपने में बहा ले जाती। वह कैसा खेल था? ठण्ड, न हवा का डर, न उड़ती रेत की फिक्र। न रात, न दिन, न सुबह और साँझ ही। क्या, क्या.....?

नहीं, नहीं, नहीं । वह जगह ठीक नहीं। बारीक छेनी ठीक चलेगी। चली—छन, छन, छन ! उधर यह मोड़ । यह जगह ठीक नहीं लगती। बेडौल-सा बेकार यहाँ पर... ।

पत्थर की बनी.....।

बच्चा मांस का पुतला—पत्थर से बाहर, भावना-हीन, यह भी गलत। वह बड़े-बड़े पत्थरों पर पड़ी हड्डियाँ ।

छेनी को चलना था। ढाल ठीक नहीं। बनावट और वह फिर.....।

शिल्पी ज्यादा उलझा था। जैसे वह असफल होगा। सफलता को नदी के किनारे के ढाँचों से तोला कर समझा कि यह उसकी हार है। उन ढाँचों में जो तत्त्व है, वह मूर्ति में नहीं यह सिर्फ खयाल ही है और वह मूर्ति ! तोलने की हिम्मत चूकने लगी। उसने सोचा, वह मूर्ति मिटा डालेगा । उसमें कुछ नहीं। उससे नहीं बनती। आगे वह क्या करे। उड़ा लें लोग उसकी खिल्लियाँ। वह किसी से वास्ता नहीं रखेगा, किसी की जरूरत उसे नहीं। न गया क्लब, रहा अपने ही घर पड़ा हुआ। क्लब वालों से पीछा छुड़ाते कितनी देर लगेगी। चार दिन का बखेड़ा... ! निश्चिन्त हो कर वह सोया रहेगा। न बनावेगा मूर्ति, न होगी तारीफ। इस सबसे उसे खास उत्साह नहीं।

सोचता रहता—बना लें जो बनाना चाहें। अधूरी रहेगी, वह उतना ही सौंप देगा। इसी पर गहरी छेनी चला, गड्ढे बनावेगा और बस। कुछ स्थायी यह नहीं है। उन लोगों के कहने को अपनी सनक में बहा कहना है—लो समाज के लोगों, तुम्हारा हुक्म तामील किया। तुम्हारी बात ठुकराने की उतनी हिम्मत मुझमें न थी, जितनी उन हड्डियों और बच्चे को। तुम और वह, एक हो; फिर भी तुममें अपने को पाकर, तुम्हारा साथ नहीं छोड़ सकता। तुम जो चाहो, मुझे मान्य है।

आज तुम्हारे कानून मुझ पर लागू हैं। उनसे भाग जाने की फिक्र मुझे नहीं। उनसे छुटकारा नहीं चाहता।

छेनी चली, चलती रही। विचार आये—उस बच्चे को सिरहाने लगा कर सो सकता, तब.....

नींद आ गयी। थकान में सो गया।

सन्ध्या को क्लब में अब शिल्पी और चित्रकार की चर्चा चलने लगी। हरएक यह जान लेने को उत्सुक था कि वे लोग क्या कर रहे हैं। पता कुछ नहीं लगता था। कोई मनोहर से पूछ-ताछ करनी कोई उचित नहीं समझता था। क्लबवालों ने तय किया कि जिस दिन दोनों अपनी-अपनी चीज पेश करेंगे, उस दिन एक बड़ा भोज हो। सब तैयारियाँ चल रही थीं।

डेढ़ महीने बाद—

चित्रकार रात-भर सोया नहीं था। अपने चित्र में ही लीन रहा। चित्र को कभी ब्रुश से साफ करता, तो इधर-उधर से देखता। अब उसमें भावना आ रही थी, खयाल जम रहा था। वह खुश था, कहीं कुछ कमी नहीं थी। चित्र की बातें अपने आप आगे बढ़तीं। वह तो जरा छू-भर लेता था। छूता और अज्ञेय खुशी होती। वह देखता, चित्र सजीव लगता है। सजीवता को गौण न मानकर वह चुप रह जाता। सोचता, ऐसा ही चित्र वहाँ के उपयुक्त था। कभी-कभी तो वह खुद ही अपनी पीठ ठोकता। एक बार चली कूची ठीक रङ्ग बिछाती। दूसरी बार छू लेने की गुञ्जायश नहीं थी। अब वह चित्र के आगे खड़ा होकर उसे जाँचा करता। कई बार चित्र से दूर खड़ा हो, उसे खूब बारीक नजर से देखता। हर पहलू से विचार करता। उसे लगता कि चित्र बिलकुल मौलिक है, नयी सूझ है। लोग देखेंगे, कमला देखेगी, लूसी देखेगी, सब देखेंगे; सोचेंगे, ठीक तो है। कभी लगता, वह धोके में है, चित्र-चित्र नहीं; सच्ची घटना, सच्चा दृश्य आँखों के आगे खेल रही है। वह पास आता, कैनवास को उँगलियों से छूकर मन में थाह

पाता कि वह उसी का बनाया हुआ चित्र है। उसी की कला का नमूना है।

सोचता फिर, कमला कहती थी, "क्या मैं चित्र पहले देख लेने का दावा नहीं कर सकती।"

उसका जवाब था, "तुम्हारी भावना ही चित्र है। तुम यदि हमेशा साथ न होती, तो भला मैं चित्र बना सकता! तुम क्या नहीं जानती, कलाकार कभी अधूरा नमूना पेश करना नहीं चाहती है। अभी चित्र में बहुत कमी है। वैसे तुमको अधिकार है, पूरा होने से पहले देख लो।"

"क्या सच वह सुन्दर चित्र है?"

"कमला यह भी पूछ लोगी?"

"अच्छा बतलाओ न उसमें क्या है।"

"क्या है...आगे क्या होगा, मैं खुद नहीं जानता। मैं तो रङ्ग भरता हूँ। आगे की नहीं सोचता। मन की बात वह.....और तुम क्या सब नहीं जानती?"

"क्या चित्र मुझसे भी सुन्दर होगा?" कमला हँस पड़ी थी।

कैसा सवाल था यह। चित्रकार जवाब न दे सका। कहा फिर, "कमला क्या सब पूछ लोगी...?"

कमला देखकर कि चित्रकार उसे टकटकी लगाये देख रहा है—चुप रही।

कमला चित्रकार की 'फैन्सी' है। चित्रकार जानता है। दुनिया की इतनी ढेर-सी युवतियों को कमला अपने से ढक लेती है। कमला को वह 'एक' गिनता है—एक इकाई। 'दो' की उसे चाहना नहीं, भूख नहीं।

और चित्र पर कमला के कई पोज होते। जब वह हँसती है, निचले पतले ओठ। कमला के क्लिप से गुँथे हुए बाल। उस दिन भागती कमला .....

ठीक बरसात के दिन... ..

पानी बरस रहा था। वह कमला के साथ घूमने निकला था कि पानी आ गया। कमला और वह पेड़ के नीचे खड़े थे। पेड़ से पानी टपकने लगा। उसने "कमला, ऐसी छाँह हमें हमेशा मिले। हम ऐसे ही साथ रहे। सारी दुनिया की फिक्र हमें न हो।"

कमला हाथ छुड़ाकर भाग गयी—भीगती-भीगती। वह चिल्लाया, "कमला, भीगो मत।" देखा था, कमला को लथपथ भीगी जाते हुए।

जरा पानी थमा। कमला जा रही थी। वह नजदीक पहुँचा, देखा—पानी टपकाते खुले लम्बे बालों को कमला फैलाये हुए उनमें छुपी थी। कमला बोली, "पानी से तुम डर गये। मुझे देखो!"

"तुम.....कमला.....!" वह अवाक्-सा उसे देखता बोला। कुछ समझ में नहीं आया।

कमला ने उसका हाथ अपने में ले लेकर हँसते हुए कहा, "मैं कुछ नहीं, तुम्हारी कमला हूँ।"

सुधरा हाथ 'कैनवास' पर सब कुछ बखेर देना चाहता था। वह चाहता था, कमला की याद ही साथ देती रहे।

अनजाने उसे नींद आ गयी। सुबह जब उठा, दिन चढ़ आया था। एक हफ़्ते से वह कमला के यहाँ न गया था।

कमला के यहाँ पहुँचा। कमला की छोटी बहन बोली, "जीजी पन्द्रह दिनों को बाहर गयी है।" एक चिट्ठी दे गयी थी। उसने पढ़ा।

"मैं बाहर जा रही हूँ। न जाने क्यों तुम्हारे नये चित्र को देख लेने को रोज मन तड़पता है। मैं नहीं चाहती कि उसे बिना पूरा हुए देख लूँ। तुम ठीक बनाना। मैं ठीक दिन तुमसे मिलूँगी और दुनिया का सबसे बड़ा तोहफा तुमको सौंपूँगी।

वह लौटा और चित्र के सामने स्टूल लगा कर बैठ गया।

शिल्पी :

शिल्पी बड़ी सुबह उठा। बाहर निकला। एक मैली-कुचैली गली के पास रुक गया। देखा—छोटे-छोटे बच्चों को धूल में खेलते हुए।

आगे देखीं—छोटी-छोटी झोपड़ियाँ। बड़ी देर तक, नजदीक की पुलिया पर बैठा हुआ वह उस मुहल्ले पर सोचता रहा। देखता रहा। समझा, उन लोगों से उसे श्रद्धा है। देखा, मजदूरों को काम पर जाते हुए। चाहा, उनमें मिल जावे। इरादा किया कि मूर्ति को निपटा कर वह वहीं आकर रहेगा। कुछ गढ़ना अब उसे उचित नहीं। गढ़ी मूर्ति मन बहलाने का साधन-मात्र है।

धीरे-धीरे वह पुलिया से आगे की ओर बढ़ा और पहाड़ी की घाटी पार की। सुनी बात याद आयी—उसी घाटी में मरे हुए बच्चे सुलाये जाते हैं। गड्ढा खोदा जाता है, गदेली बिछायी जाती है और.....।

एकाएक वह चौंक उठा, उसे लगा कि सामने एक बच्चा जमीन से उठा और दौड़कर कहीं ओझल हो गया। फिर उसने बच्चों के रोने की आवाज सुनी। पीछे फिरकर देखा, कुछ न था। वह भाग जाना चाहता था। सामने देखा; बच्चे को दोनों हाथों से सँवारे हुए सफेद कपड़े से ढके एक काफिला चला आ रहा है। गड्ढा खोदा, बच्चे को..? वे चले गये।

कुछ देर बाद वह उठा। उसी जगह पर आया, पीली मिट्टी की मुट्ठियाँ उठायीं और हँस पड़ा।

रात्रि को जब मूर्ति पर छेनी चलायी, सोचा—हाथ में बच्चे को उठाये वह.....!

चाहा, अपनी मूर्ति को नष्ट कर दे। दौड़कर बच्चे को खोद लावे। उसे टाँग दे। लोग देख लें, देखें.....।

छेनी फिजूल, हथौड़ी, पत्थर का टुकड़ा.....। इनके साथ जीवन का गहरा सम्बन्ध नहीं है। यह सब तत्त्वहीन लगा। एक बखेड़ा...

छेनी चली। आज उसे खयाल आया, कुछ दिन और बाकी हैं। सामने कैलेण्डर की तारीख देखी। वह इसके बाद शहर छोड़ देगा। कहीं एकान्त में रहेगा। सभ्यता जीवन का नाश कर रही है। इस बन्धन में वह जरा भी साँस न लेगा। चला जावेगा, वहीं, जहाँ वही रहेगा.....

उसे छेनी से यह आखिरी सम्बन्ध लगा। छेनी चली.....। इधर-उधर बिखरी कनें.....। आसपास पड़े बेडौल पत्थर। और कुछ नहीं। वह और उसकी मूर्ति। मूर्ति से कहीं उसे मोह न हो उठे। मोह ने क्या आज तक उसे बाँधा है। मूर्ति क्रिया की फल-मात्र रही। अपने में अलग उसे लगी।

चुपचाप वह छेनी चलाता रहा।

एक सप्ताह तक शिल्पी और चित्रकार कोई भी न देख पड़ा।

आखिर वह दिन आ पहुँचा। लोग चित्रकार के कमरे में पहुँचे। देखा:—

एक बड़े कैनवास पर चित्र था—दूर जङ्गल का। बूढ़ा अकेला जमीन पर लेटा मौत की आखिरी घड़ी के इन्तजार में था। उसकी धुँधली आँखों के सामने बड़े पीपल के पेड़ की ओर लगी थीं। वहाँ गिद्ध और कौवे उसकी मौत की बाट जोह रहे थे। पीछे झाड़ियों से एक शृगाल उसे घूर रहा था।

चित्रकार ने उसके नीचे मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—जीवन।

पास की मेज पर चन्द लाइनों की एक चिट थी:

'कमला, मेरा चित्र पूरा हो गया। साथ ही मेरी कला निपट गई। जो पाना था पाया। अब दूर चला जा रहा हूँ।'

सब चुप रह गए।

शिल्पी के कमरे में जाकर देखा:

सामने एक नग्न युवती की मूर्ति थी। एक-एक अङ्ग सुन्दर गढ़े। युवती के होंठों पर मुसकान थी।

नीचे खुदा था—मृत्यु।

लोगों ने आगे देखा—शिल्पी मुँह के बल नीचे पड़ा हुआ था। वह एक मरे हुए बच्चे की लाश को छाती से चिपकाये बेहोश पड़ा हुआ था।

मृत्युगीत

आधी रात को एकाएक प्रकाश ने एक गीत की ध्वनि सुनी। अभी तक उल्लू घू-घू-घू कर अब चुप हो गया था शृगालों का हूआ-हूआ-हूआ भी शून्य की चुप्पी में रल गया। फिर वह पक्षी अब न जाने कहाँ छत पर से उड़कर चला गया, जो एक तीक्ष्ण आवाज में प्यँ-प्यू-प्यूँ की बोली बोल रहा था। बिलकुल अँधकार सिर्फ खुली खिड़की से बाहर पहाड़ की चोटी पर नजर पड़ती थी। उस अँधियारे में कभी तो दिल में दुबकी पीड़ा उमड़ने लगती थी। भारी डर सारे शरीर पर फैल जाता है। वह कुछ पा लेना चाहता था सामने पहाड़ पर चीड़ के पेड़ों के गिरोह पर नजर गड़ जाती। उस ओर वह टकटकी लगाकर देखने लग गया। तभी ठंडी हवा, लापरवाही से गिरे कम्बल-वाली जगह पर, शरीर के किसी अँग को छू जाती थी। वह सावधान हो जाता ठीक-सा ध्यान आता और अपने परवा की फिक्र घेर लेती थी।

फिर वही गाने का स्वर ?

अजीब-सा पहाड़ी गाना कहीं हो रहा था

कभी उसने ऐसा भावुक गीत नहीं सुना था। गीत की अवहेलना नहीं हो पाती थी। सुनसान में, वह हृदय के भीतर पैठे, एक झँकार पैदा कर देता था। वह एकबारगी चैतन्य हो उठता। वह सारा उभरा डर मिट जाता था। कुछ देर के बाद उसे अपनी परवशता घेर लेती थी। कितनी निराशा थी उस गीत में। लगता कि आजीवन भारी दुःख समेट कर किसी ने उसे रचा हो। अपनी पीड़ा में वह बाँध लेता है। भारी कमजोरी अपने में फैल गई।

एक बार वह गीत हृदय में प्रतिध्वनित हुआ। उसमें एक गहरी वेदना का पुट था। सवाल था एक—मैं तुम्हारी बेचैनी समझ रहा हूँ।

क्या चाहते हो तुम ? मैं तुमसे अलग नहीं हूँ। प्रकाश अपने को असहाय पाकर चुप रह जाता था। वह चुपचाप नींद में अपने को भुलाने लगा।

पास नजदीक नहीं, लड़कियाँ क्यों वह गीत गा रही थीं। वह किससे बात का निवारण कर लेता। माया आज लँघन कर गई थी। उस युवती माया ने एक दिन सुनाया था - मौत बुरी चीज है। हम मरनेवाले व्यक्ति को रिझाने व उसका दुःख हटाने को, इसी लिए गीत गा-गाकर उसे मोह लेती हैं। तब क्या कोई मर रहा था। वह झूठ कैसे मान ले। बार-बार पिछली यादें उसको परेशान करती थीं। उफ, कितनी प्यारी थीं वे यादें ! आज भूल बनी वे चुपके उसके दुःख के साथ सो रही थीं। या अनायास कोई स्मृति में साफ-साफ तसवीर की तरह चमक उठती थी। तब वह क्या सोचता। वह तो खाली हो रहा था।

माया फिर भी याद नहीं थी। वह कैसे उसे सत्य मान लेता। वह उसे ज्ञेय लगी थी। सारी नारी-कोमलता वह सँवारे हुए थी। उसी माया के आश्रय की जीवन-छाया में वह तीन महीने से पड़ा है। माया पहचान के भीतर थी। उसकी जानकारी को पाकर, व्यर्थ न जाने क्या-क्या वह अपने मन में टटोलता था। जैसे कि उस सूझ के भीतर कोई अमल्य सम्पत्ति दुबकी हुई हो। जिसे पाकर वह, अपने पिछले जीवन में पड़ी खाइयों को भर, खुद स्वस्थ हो जावेगा। एक बार ठीक-ठीक पीछे मुड़कर देखने की चाहना उसे थी। यह साबित करना चाहता था कि वास्तव में वह कोरा और अकेला नहीं है। रोजाना जीवन में बहुत लोग उसे मिले थे। वक्त की पिटी लकीर की खड़ी भीड़ में से वह कुछ को पहचान लेगा। आखिर कितनी बड़ी मंजिल है यह जीवन ! किन्तु माया जीवन से अलग थी। वह अपनी सूजी और फीकी आँखों की सफेदी में काला बिन्दु न छिपा पाती थी। वह निशान कभी-कभी हलका पानी की तह पाकर चमक उठता था। उसने अन्दाज लगा लिया था

कि माया अपने दिल में कुछ छिपाये फिरती है। उस नारी-गण की व्याख्या वह न कर पाया था। यह भी महसूस किया था उसने कि माया की आँखें आँसू की बूँदें टपकाने में प्रवीण हैं। मुँह से बात निकलने का मौका वह नहीं देती है। आँसुओं का खारीपन शायद दिल के मैल को बहाना जानता होगा। दिल में सफाई रहनी चाहिए, ताकि अवसर पर कुछ खास उलझन बाकी न रह जाय। कुछ कमी रहेगी भी तो उसे नारी-दया आसानी से भर लेती है। वह दया अहसान न थी। अपने सहारे का विश्वास किसे नहीं रहता है।

उतने गाँव की लड़कियों के बीच माया अलग लगती थी। उसकी आवाज मधुर और प्यारी थी। उसके तर्क में पुरखिनवाला जोर था। उसकी सलाह में अपनापन था। ममता में नारी की सारी कमजोरियाँ थीं। पीली कमीज के ऊपर लाल मखमल की वास्कट पहनना उसे पसन्द था कानों में सस्ते पीतल के बुन्दे झूलते रहते थे उनको तिब्बती लोग बेच जाया करते थे गले में मूँगे की बँधी माला बहुत सुन्दर लगती थी। जिसके बीच में एक सोने का बड़ा दाना था। वे छोटे-छोटे काले मूँगे के दाने उसके कुन्दनी रंग पर खूब खिलते थे।

माया-सी सुलझी लड़की प्रकाश को आज तक कोई भी नहीं मिली थी। यदि वह माया के नजदीक आजीवन रह जाता तो शायद उसकी तृष्णा मिट जाती। उसके दिल की आग बुझती। वह आग तो नारी की देन है। उसे पुरुष को सौंपकर वह भाग जाती है। यह ज्ञान सौदामनी ने उसे सौंपा था। अप्राप्त वह रह गया। सौदामनी थी माया से भिन्न। वह बहुत सजीव थी। अपनी सुन्दरता को सँवार लेनेवाली समझ उसे थी। अपनी संस्कृतिवाले वातावरण में पलकर वह, तोड़-मरोड़कर बातें करना जानती थी। अपने दिल को खोलकर रख दूसरे के समझौते का विचार भी उसे था।

उस सौदामनी को वह जानता था एक दिन उसे लगा कि वह

बहुत सरल है। वह बोली थी, "मास्टर साहब, अब मैं फेल नहीं होने की हूँ।"

इतना विश्वास! जो सौदामनी इम्तहान से बहुत डरती थी, वह चार दिनों में ही कैसे बदल गई। प्रकाश ने पूछा था, "आज पहले क्या पढोगी?"

"पढ़ना!" उसने अपनी आँखें ऊपर उठाकर फिर झुका लीं।

"कलवाले 'एलजबरा' के सवाल कये हैं?" कहकर उसने मेज पर से कापी उठा ली।

कापी फुर्ती से छीनकर वह बोली, "नहीं किये हैं।"

कि सौदामनी की अम्मा आकर कहने लगीं, "अब के यह इम्तहान नहीं देगी। शादी तय हो चुकी है। मैट्रिक पास करने से कुछ फायदा नहीं है।" और चुपचाप चली गईं।

मास्टर साहब ने सुना और कोई जवाब नहीं दिया। पढ़ाई अब तक चालू थी और बन्द कल हो जावेगी। तब भी कोई अड़चन न थी। दो घंटे रोजाना इस लड़की को पढ़ने में खर्च करने के बाद उसे इस लड़की का ज्यादा खयाल नहीं रहता था। सबक से बाहर बातें करने को वह उत्साहित नहीं करता था। बाहर के सवालों का कम जवाब वह देता है। वह भी एक मजबूरी जताकर।

तो आज अब इम्तहान का डर उसे नहीं था। वह चुपचाप रह गया। सौदामनी ने चुप्पी तोड़ी, "मुझे तो मैट्रिक देना है। पापा से कहूँगी।"

सौदामिनी दूर हटी ठीक लगती थी, लेकिन उसकी बहन विमला अक्सर दोनों को मिला देती थी। आज भी विमला ने आकर पहला सवाल किया, "मास्टर साहब, आप उदास क्यों हैं?"

'उदास!' वह चौंक उठा। क्यों उदास है, समझ नहीं पड़ा। विमला ने सही बात कही थी। अन्यथा आज ही वह क्यों कहती। विमला तो शरारत की खान थी। अक्सर छोटी-छोटी बातें बनाकर

सौदामिनी के आगे प्रकाश को लाचार साबित करके भाग जाती थी।

प्रकाश को चुप पाकर विमला ने फिर कहा, "आज तो नये बटन पहने हुए हो। बस...। तन्दुरुस्ती का खयाल रखना चाहिए।"

प्रकाश सोचने लगा—तन्दुरुस्ती और बटन! कैसे दोनों मेल खाते हैं।

"तन्दुरुस्ती के बिना और सब कुछ बेकार है।"

बटन और तन्दुरुस्ती! बटन गला भी नहीं घोट रहा था कि साँस कम चले।

"तन्दुरुस्ती ठीक रखनी हो तो खूब खाना खाना चाहिए। आपतो बटनों में पैसा फूँक देते हैं। सब बेकार ही तो है। मुझे देखिए। हफ़्ते में एक रुपया मिलता है। पेट में गया, बदन पर लगेगा। मैं तो मूँगफली, अमरूद, नानखटाई, जो मिलता है. खाती हूँ। खूब—खूब खाती हूँ।"

अब प्रकाश ठीक बात समझ पाया था। विमला जोर से बोली, एक बात कह दूँ मास्टर साहब।"

मास्टर साहब चुप थे।

"अब आप मुझे पढ़ावेंगे। जीजी तो.....!"

प्रकाश ने हँसकर विमला को गोदी में ले कहा, "जरूर! बोल, क्वा पढ़ेगी तू!"

"जीजी की सब किताबें।"

प्रकाश ने सौदामनी की ओर देखा। बातें चालू हो गईं। सौदामनी का उत्साह भी पढ़ने से हट गया। आज नई बात थी कि मास्टर साहब बातें कर रहे थे।

सौदामिनी ने कह दिया, "विमला तो डाक्टरानी बनेगी, ओ डाक्टरनी साहिबा!"

"मैं नहीं बनूँगी डाक्टरनी।"

"कल साँझ को तो...।"

"मैं नहीं हूँ डाक्टरनी।" यह भेद मास्टर साहब के पास क्यों कह दिया गया। विमला अपनी जीजी से नाखुश थी।

प्रकाश बात सुधारते हुए बोला, "डाक्टरी तो अच्छी होती है। विमला जरूर डाक्टरनी बनेगी।"

खुश होकर, विमला गोदी से उतर, भीतर भाग गई।

सौदामनी को इस तरह आगे पा, आज प्रकाश के दिल में एक अज्ञात गुदगुदी हुई। वह सत्रह साल की लड़की, लापरवाही से धोती का आँचल कंधे में डाले, अब अपना सबक नहीं पढ़ेगी।

प्रकाश ने अरिथमेटिक की किताब उठा, पन्ने पलट कर एक सवाल पर उँगली रखते हुए कहा, "यह सवाल करना।"

सौदामिनी ने कापी पर सवाल करना शुरू कर दिया। उसे हल नहीं कर पाई। इस मास्टर को वह कभी नहीं समझ सकी है। जितना थोड़ा पहचाना, वह विमला की वजह से। विमला पास न आवे, तो यह हँसी को बाहर प्रदर्शित करना तक नहीं चाहते हैं। यह छिपाना क्यों होता है। पर अपनी पढ़ाई के अलावा, मास्टर साहब को कुछ अधिक जान लेने की कोशिश उसने भी कभी नहीं की।

सोच रहा था प्रकाश—यह विवाह क्या है? मान लो सौदामनी की शादी हो गई, वह ससुराल चली जावेगी। सुबह को सिविल सर्जन साहब ने अपने लड़के को पढ़ाने के लिए कहा था। उसे दूसरा ट्यूशन मिल जावेगा। यह सौदामिनी और विमला तब भी आगे नहीं मिलेंगी। विवाह ही कारण है कि वह दोनों अलग-अलग हो रहे हैं। विवाह ठीक बन्धन होगा। उससे मतलब नहीं। आँखें मूँदकर वह इसी तरह जीवन-जाल बुन रहा था। सौदामनी ने उसे जगाने की कोई भी कोशिश नहीं की।

"मास्टर साहब!" विमला आकर बोली।

लेकिन प्रकाश का ध्यान नहीं टूटा। सौदामनी ने उसे हिलाते हुए कहा, "डाक्टरनी आ गई।"

प्रकाश ने लज्जित होकर, आँखें खोल डालीं। देखा कि विमला चश्मा लगाये थी। गले पर जापानी खिलौने का 'स्टेथसकोप' डाले थी। हाथ में जापानी हैंडबेग था।

"अच्छा डाक्टरनीजी" प्रकाश बोला।

"मरीज कौन है ?" विमला ने पूछा।

सौदामनी और प्रकाश चुप रहे।

"आप बोलते क्यों नहीं हैं ?"

किसी ने जवाब नहीं दिया।

"शादी किये कै साल हुए ?"

चौंककर प्रकाश ने सौदामनी की ओर देखा। वह गुलाबी पड़ गई थी। हँसकर बात को सँभालते बोली, "तीन साल।"

"कोई बच्चा भी हुआ है।" कह, बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही विमला ने सौदामिनी की छाती पर स्टेथस्कोप लगा, सिर धीरे-धीरे हिलाना शुरू कर दिया था।

प्रकाश इस मजाक से अवाक् रह गया। आज सौदामनी ने अपनी लाज कहाँ रख दी। ये दोनों लड़कियाँ चाहती क्या हैं ? यह खेल कैसा है ? कुछ भी सुलझ नहीं पड़ता था। इस सौदामनी को पढ़ाते-पढ़ाते इतने दिन बीत जाने पर अब अन्दाज लगा कि वह काफी समझदार लड़की है। प्रकाश से भी, जो उसका गुरु कहलाता है। आज तक वह किताब के सहारे उसके नजदीक था। उस मार्फत के हट जाने पर कल उसका कोई नाता नहीं रह जावेगा। फिर भी क्या यह सौदामिनी, 'प्रकाश' नाम अपने पास सँवार कर रखेगी। बात पकड़ में नहीं आती थी सब कुछ झूठ-सा लगता था।

"हिन्दुस्तानी आदमी औरतों का खयाल नहीं रखते हैं। इसीलिए उनकी औरतों की जिन्दगी हर वक्त खतरे में रहती है। आप तो पढ़े-लिखे हैं।" विमला ने कहा।

"अच्छा डाक्टरनी साहिबा, अब आप मेहरबानी करके जावें। हम अपनी जिन्दगी खतरे से निपट लेवेंगे।" सौदामनी इस अध्याय को बन्द करने की गरज से बोली।

"फीस !"

"अच्छा आप फीस भी लेती हैं।" कह, हँसते हुए सौदामनी ने कापी पर से एक कागज का टुकड़ा फाड़कर दे दिया।

विमला उसे लेकर बोली, "देखिए, इनकी हिफाजत किया कीजिए। दवा मँगवा देना। चार-चार घंटे में देना।" विमला चली गई।

प्रकाश ने बहुत सोचा कि क्या सौदामनी सारी बातें जानती थी। उसे इस तरह खेल देख लेने का मौका क्यों दिया है। यह विमला भी क्या लड़की है। अब प्रकाश ने जाना कि सौदामनी गूढ़ है। वह साधारण विद्यार्थिनी न थी। वह मास्टर नामक जन्तु को निरर्थक ही उलझाने को तैयार न थी।

"सवाल निकला।" प्रकाश ने कापी ले ली। देखा कि उसमें बहुत सारी टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खिची हुई थीं। अभी तक सौदामनी वही जाल बनाने में मशगूल थी।

बोली वह, "समझ में नहीं आया है।"

अपने पकड़े जाने पर वह क्या जवाब देती।

कहा प्रकाश ने, "इस तरह तो काम चलने का नहीं है। परसों ही मैंने ऐसा एक सवाल समझाया था।"

सौदामनी ने चुपचाप कापी ले ली। पेंसिल का पिछला हिस्सा दाँत से दबा लिया। किताब पर लिखा सवाल पढ़ा। उसे करना शुरू किया। आखिर किताब बन्द करके बोली, "मेरी तबीयत आज ठीक नहीं है।"

"मैं सोच रहा हूँ, "मेरी तबियत आज ठीक नहीं है।"

"आप नहीं आवेंगे ?" सवाल सौदामनी ने पूछ डाला।

"हाँ।"

"इम्तहान तो मुझे देना ही होगा।"

"वह जरूरी बात नहीं है।"

सौदामनी मुरझा गई थी।

"नमस्ते।" कहकर प्रकाश चला आया था। कुछ दूर बढ़ा था कि सौदामनी ने पुकारा, "आप अपना टोप भूल गये हैं।"

लौटकर प्रकाश ने कुरसी के नीचे से अपना टोप उठा लिया था। पास आकर सौदामनी ने पूछ ही डाला, "आप मुझसे नाराज हैं?"

"नहीं। यह गलत समझा है।" और वह चुपचाप चला आया। लौटकर अपने को असमर्थ पा, वह फिर पढ़ाने नहीं गया। कभी सोचता "सौदामिनी उसकी कौन है?"

दो साल गुजर गये। तीसरा भी कट रहा था कि एक दिन उसे बड़ा-सा लिफाफा मिला। वह सौदामनी की चिट्ठी थी। पढ़ा उसने:—

"मास्टर साहब,

आपकी वह उपेक्षा आज तक नहीं समझ सकी हूँ। वह बात सर्वदा मुझसे झगड़ा करती रही है। आप एकाएक उस तरह क्यों चले गये थे? हम लोगों को एक दिन तो अलग होना ही था। फिर इस तरह आपका चला जाना ठीक बात नहीं हुई। मुझे मेरा कर्तव्य समझाना तो आपका फर्ज था। आपके उस तरह चले जाने से मैं बहुत डर गई। कुछ काम करने को मन नहीं करता था। मैं परेशान रही। किससे सब कुछ पूछ लेती। वह भय इस वक्त भी घेरे हुए है।

आपको आज पत्र लिख रही हूँ। अब मेरी जिम्मेदारी बढ़ गई है। मैं माँ हूँ। यह बच्चा कभी-कभी भय छीन लेता है। क्या आप हमारे गृहस्थ में कभी नहीं आवेंगे? वैसे मैं कैसे और किस मुँह से बुलाऊँ! कौन-सा अधिकार है मेरा? तब भी.....। क्या मैं अनुरोध करने लायक हूँ?

आपके चले जाने के बाद, आप पर मैंने बहुत कुछ सोचा है। मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था? मैं अक्सर अपने पर नाखुश होती थी।

विमला रोज पूछती, 'मास्टर साहब कब आवेंगे जीजी ?' इस बात का कोई भी जवाब मेरे पास नहीं था।

एक सहेली से अनायास ही आपका पता आज मालूम हुआ है। आज भी क्या आप वैसे ही रूखे हैं ?

विमला यहीं है, उसके खातिर जरूर आना।

आपकी
सौदामनी'

इस पत्र को पाकर प्रकाश चौंक उठा था। यह सौदामनी का कैसा व्यवहार था ! कुछ सोचकर उसने जवाब लिखा। फिर सब पन्ने फाड़ डाले। यह झूठी भावुकता लगी। कुछ आगे लिखने का तकाजा नहीं उठा।

चार साल पूरे कट गये। कुछ महीने भी। फिर एकाएक सौदामनी की चिट्ठी मिली:—

"मास्टर साहब,

जिन्दगी समझ में नहीं आती है। जिस गृहस्थी में आकर एक दिन फँस गई, उससे छुटकारा चाहती हूँ। यह सब झमेला है। अपने मन को बहुत पलटना चाहा, पर पलट नहीं सकी। वह शादी मेरी मजबूरी थी। आपने क्यों मुझे इस तरह गृहस्थी में धकेल दिया ? आप तो मेरे स्वभाव से पूर्ण परिचित थे। हर एक बात को यहाँ आकर स्वीकार करने की कोशिश मैंने की। सफल न हो सकी।

आप नहीं आये। यह कैसा अहसान था ! मैं कुछ भी नहीं समझ सकी। आज अब आपकी जरूरत मुझे नहीं है। दो हफ़्ते हुए, बच्चा मर गया। इसी लिए अब आपके आने की उम्मीद को बिसार बैठी हूँ। मैंने बहुत इन्तजार किया है। मुझे इस दुनिया से कोई भी चाहना नहीं है।

आपकी
सौदामनी"

पत्र पढ़कर प्रकाश ने निश्चित किया कि वह जरूर ही सौदामनी के पास जावेगा। अवसर नहीं मिला। कई महीने गुजर गये। एक दिन मौका पाकर आखिर वह वहाँ पहुँचा, एक युवक बैठा था। कहा उसने, "सौदामनी से मिलने आया हूँ।"

"सौदामनी से !"

"कहिएगा प्रकाश आया है।"

"मिस्टर प्रकाश ! उफ, आप देर से आये हैं। मैं उसका पति हूँ। इस घर में आकर वह एक दिन भी सुख से नहीं रही। रोज आपकी चिट्ठी का इन्तजार उसने किया। उसने कहा कि उनसे माफी माँग लेना। वह पिछले हफ्ते मुझसे झगड़कर अपने मायके चली गई है।"

दिल का घाव खुल गया। गीत का स्वर वही निराशपूर्ण था। वह पहाड़ पर माया के घर पड़ा है। उसने करवट बदली। वह अज्ञातों के देश में है। अपना कोई सगा नाते-रिश्तेवाला वहाँ नहीं था। वह सौदामनी तब उस तरह झगड़कर मायके चली गई थी। वह उद्भ्रान्त हो उठा। भारी प्यास लग गई। अपने पास कोई भी नहीं था। उसने उठने की कोशिश की। कमजोरी की वजह, धड़ाम से वहीं गिर पड़ा। वहीं बड़ी देर तक पड़ा रहा। जब होश आया, हाथ बढ़ाकर पानी का लोटा लिया। खूब—खूब वह ठंडा पानी पी लिया। अभी तक बहुत तेज बुखार चढ़ा हुआ था।

वह आज कहाँ पड़ा हुआ था। अनजान लोगों की बस्ती में—सभ्यता की पहचान से बड़ी दूर। वह पहाड़ों-पहाड़ों में अपने दुःख को बाँट लेने मारा-मारा फिरा। मन कहीं भी न टिकता था। एक दिन भारी बुखार चढ़ जाने पर, वह एक पहाड़ी झरने के पासवाली चौड़ी चट्टान पर लेट गया था। वहीं माया अपनी सहेलियों के साथ पानी भरने आई थी। वह माया के घर पहुँच गया था। उस लड़की ने कोई भी बात उसके लिए उठाकर नहीं रक्खी। वह कुछ कहता था, माया चाव

से सुनती थी। माया अपने को छिपाकर न रख, बहुत सारी बातें कहती थी। सुन्दर-सुन्दर गीत सुनाती। तकली से ऊन कातती, डोरा बनाती, वह कहती थी, "अच्छे हो जाओ। तुमको भी सिखला दूँगी।"

किन्तु वह प्रकाश रोगी था। न जाने कब से सारा शरीर क्षय के रोगी की तरह नष्ट होता जा रहा था। बहुत बीमार पड़ गया। कुछ दिनों तक हालत बहुत नाजुक रही। कुछ जरा सँभल जाने पर वह एक दिन बोली, "मैं तो डर गई थी।"

"डर !"

"तुमको क्या मालूम होगा। पाँचवें दिन आज आँखें खोली हैं।"

"क्या माया ?"

"एक बात बतलाओगे।"

"क्या ?"

"सौदामनी कौन है ?"

"वह !"

"बतला दो मुझे !"

"माया !"

"कौन है वह।"

"वह।" प्रकाश की आँखों में ज्योति आई।

"बार-बार तुम उसका नाम बड़बड़ाया करते थे।"

अब वह गीत सहारा देता लगा। उस सुनसान में उसका स्वर, जीवन को छू लेता था। गीत की ओर उसका ध्यान गया। उसके बीच माया की आवाज साफ-साफ सुनाई पड़ती थी। वह स्वर फिर गहरी निराशा फैलाने लगा। सामने वही पहाड़, वही चीड़ के पेड़ों का गिरोह था। फिर वही शृगालों की हूआ ! हूआ !! हूआ !!!

और गीत का स्वर ?

माया अक्सर कहती थी, "बचपन में मुझे बड़ा डर लगता था। आज तो अब डर भाग गया है।"

तब क्यों प्रकाश अज्ञेय किसी भय को पकड़े हुए था ? प्रकाश ने दूसरी करवट बदली। गला सूख रहा था। सारी देह जलती लगी। अचेतन वह हो उठा।

तभी एक मुस्कराहट उसने सुनी। सौदामनी की वह हँसी थी।

वह स्वर भी खो गया। माया पास न थी। वह डर गया। समझा कि वह मर रहा है, तब उसे इसी तरह मर जाना है।

किन्तु फिर वही गीत का स्वर !

सौदामनी पुकारती लगी—मास्टर साहब !

और गीत की ध्वनि के भीतर से माया के स्वर की पीड़ा वह भाँप रहा था।

सच ही प्रकाश.....। नहीं, आज अब वह स्वस्थ हो रहा था।

मौंचू और मीला

मीला गँडेरी की छोटे-छोटे टुकड़ों से भरी तस्तरी लेकर आई।

मौंचू अखबार पढ़ रहा था।

मीला आई और चुपचाप खड़ी हो गई। कुछ बोली नहीं।

मौंचू बिल्कुल बेखबर बैठा हुआ था।

मीला ने मौंचू को देखा, देखकर कुछ सोचा, चाहा कि कुछ बोले। फिर अपने में ही शरमाती, चुपचाप आगे बढ़ी और तस्तरी मेज पर रख दी।

आहट पाकर मौंचू ने मीला को देखा। आँखें कुछ देर तक मीला पर टिकी रह गईं। देखी तस्तरी और उस पर फैली हुई गंडेरी की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ। सटपटाकर बोला, "अभी अभी तो फल खाए हैं। खाना, फल, और.....। मुझे भूख नहीं है।"

मीला मुरझा गई। सारा उत्साह इस अवहेलना में खो गया। चुप रहकर मनही मन सोचा—यह क्या! समस्त आशा चूक गई। गँडेरी बनाते-बनाते उँगली जहाँ कटी थी, वह अब दुखने लगी। दुःखी और उसकी पीड़ा से तिलमिलाकर वह आगे बढ़ कर बोली, "जरूरत नहीं है तो अहसान क्या? व्यर्थ खाना ठीक नहीं होगा।" मन्थर गति से भीतर चली गई।

यह सब भी मौंचू को उलझाने काफी न था। लेकिन अब उसे लगा कि मीला कुछ तकरार सी बढ़ा गई है। यह पहली ही थी। मीला तो चली गई। यह नाराजी कैसी! अपने पेट का खयाल उसे है या मीला को!

अखबार उसने मेज रख दिया और चुपचाप इजीचियर पर लेटा ही रहा। सोचा: एक-दो टुकड़े खा ही लेता। अब तो सारी बात बड़ी

जल्दी में हो गई थी कि मौका ही नहीं मिला। और मीला चली ही गई थी।

मीला को जाना था, चली गई। वह तो गई, पर मौंचू को उलझा कर। शायद मौंचू को कुछ सोचने छोड़ गई थी। वह गलत ही सही, फिर भी मीला रुक सकती थी। इतनी बात कुछ ज्यादा नहीं थी। उसने सामने टँगे कैलेंडर की एक-एक तारीख देखी। दीवालों पर टँगे 'आयल-पेंटिंग' पर आँखें डालीं। बड़ी देर तक कुछ सोचता ही रह गया। अब मेज पर बिछे हुए 'टेबुल-क्लाथ' को देखा। उस पर कुछ कढ़ा हुआ था। इसी पर पिछले साल मीला ने इनाम पाया था। किस उत्साह से उसने वह बात कही थी।

गाया मीला का बुना हुआ टेबुल-क्लाथ ही मनबुझाव करने को अब बाकी बचा था। किसी और बात की जगह तब वहाँ नहीं थी। मीला 'अहसान' के भारी बोझ सौंपकर चली गई थी। जैसे कि वह अब उन सुफेद-सुफेद गँडेरियों से पैदा होकर उसे डस रहा हो।

और मीला.....।

वह सोचती है, मौंचू उसकी भावना नहीं पहचानता है। बार-बार बातों का ऐसा कोरा उत्तर देता है जैसे कि कुछ और कहने की सामर्थ्य न हो। कुछ सही। मीला मौंचू के नजदीक आती ही क्यों है। उसका न आना ही ठीक होगा। आती है तो क्या नहीं जानती कि मौंचू बड़ा रूखा जीव है। जो मन में आया कह देता है। ठीक-ठीक बातें करना तक नहीं जानता। वह कब सीखेगा। फिर भी·····।

मौंचू मीला के घर आया है। आज नई जान-पहचान नहीं। पहिले एक बार वह मीला को जरा दूर से, उसकी बुआ के घर पर देख चुका है। देखा भर था मीला को। कुछ समझ और पहचान लेने का सवाल नहीं उठा था। जब मीला चली गई थी, तब लगा था कि उस घर और पड़ोस की लड़कियों में मीला का व्यक्तित्व उसे खूब भाया था। तब बार-बार मीला की याद आई थी। उस मीला को पास से देख लेने के

लिए दिल तड़पा था। जितना ही वह भुलाना चाहता, उतना ही वह उसे ठगती, आँखमिचोनी खेलती हुई उसके मन के किसी कोने में जगह पा, पसरने लगी थी।

मीला के बुआ का घर उसके लिए नया कहाँ था। वह मीला की बुआ थी तो उसकी भी दूर रिश्ते की बुआ लगती थी। लेकिन वह वहाँ बीमार क्यों पड़ा था। मीला एकाएक अनजाने वहाँ खुद ही पहुँच गई थी। मलेरिया टूटने पर जब वह जरा अच्छा हुआ, तो घर भर की लड़कियों ने बुआ को घेर लिया था—वायलिन सुनवाने के लिए।

और बुआ आकर बोली, "मौंचू सुना दे न। सब मेरा सिर खाए हैं।"

मौंचू सा झेंपू क्या 'वायलिन' सुना सकने का हिम्मत रखता था।

कुछ जवाब न पा बुआ फिर बोली, "इसमें शरम की क्या बात? वे कोई बाहर की थोड़े ही हैं। और मीला कोई हमेशा थोड़े ही आवेगी।"

मौंचू ने बात मंजूर की, कहा था, "रात दस बजे के बाद वह सुनावेगा।"

बात कहने को कह दी। वह सब याद उसे नहीं रहा। वह तो चुप-चाप सो भी गया। पर मीला जगी ही रही। इसी उम्मेद पर कि वह वायलिन सुनेगी। दस, ग्यारह, बारह बजे के बाद जब उसने मौंचू के कमरे में झाँक कर उसे खर्राटे भरते पाया तो मनमार सो गई।

लेकिन वायलिन न सुन सकने की बात वह भूल नहीं सकी। अगले दिन घर के छोटे लड़के की आड़ लेकर बोली थी, "कोई रात भर जागे, कोई मजे में सोया रहे। खूब रही। वायलिन सुनकर तो पेट भर गया।"

मौंचू फिर भी मजाक से बाहर चुप ही रहा। जवाब की व्यवस्था उसने लागू नहीं होने दी। मजाक से भला उसका क्या सरोकार था कि वह

उससे वास्ता रख ले। वह तो वायलिन सुनाना न चाह कर, टालने के लिए, बहाना बनाकर सो गया था। बात निभ गई थी।

फिर भी घर की लड़कियाँ मानी नहीं। एक दिन मौंचू पकड़ में आ गया। सब दिन को जमा हुए। मौंचू को वायलिन सुनाना पड़ा। वह बजा रहा था। मीला चुपचाप एक कोने में दुबकी बैठी हुई थी। जब कभी मौंचू उधर देखता, तो मीला की आँखों की पुतलियाँ फैली और खाली मिलतीं। लाज से आँखें झुक नहीं पड़ती थीं। अपने से जैसे कि वह लाज नहीं करेगी। मौंचू बात नहीं समझा। वह अपने भीतर शर्म से सिकुड़ गया। मन भारी हो आया। वायलिन न बजा सका। बस चुपचाप वायलिन रखकर, बाग की ओर निकल पड़ा। सब लड़कियाँ अवाक् रह गयीं।

अब सवाल उठा उसे बुला लाने का। मीला को यह भार सौंपा गया। मीला मना करेगी, यह सभी को विश्वास था। लेकिन मीला उठी। बाहर बाग की ओर देखा : मौंचू चुपचाप 'लाउन' पर फैली हुई घास पर बैठा है। वह पास जाकर बोली, "आपको बुलाया है।"

"मुझे!" मौंचू ने गौर से मीला को देखा। जैसे कि बुलानेवाले को पहचान कर भी, वह निरा अनजान ही रहेगा।

दबे स्वर में मीला बोली, "बीच में ही क्या कोई बजाना छोड़कर इस तरह भाग आता है।"

मौंचू के मन में बात उठी कि वह मीला से कुछ कहेगा। वह कुछ कहना चाहता है। वह उठा, उठकर चलने को ही था कि एकाएक रुक गया। बोला, "मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

"आप झूठ बोल रहे हैं।" मीला बोली।

"झूठ!" बात समझ में मौंचू के नहीं आई।

"देखिए बहाना न बनाइए।"

"व—हा—ना!"

"मुझे भी क्या शर्मिन्दगी उठानी पड़ेगी कि आपको नहीं ले जा सकी।"

"आप मुझे गलत समझ रही हैं।"

गलत ही सही, पर आप चलिए। मैं और कुछ नहीं जानती हूँ।"

मौंचू निरुत्तर रह गया। यह मीला का पहला अनुरोध था। आज तक कब उसने कोई बात कही थी। ऐसा हुक्म वह दे सकती है, यह अन्दाज नहीं था। इसे वह जोर-जबरदस्ती गिने या कुछ और? वह स्वीकार क्या करे। फिर जाकर वह 'उपहास का जीव' बनेगा। उन लड़कियों का मजाक सुन और सह लेने की शक्ति भी उसमें नहीं है। वह आखिर बोला ही, "आप मुझे माफ कर दें। व मेरी बात का ख्याल भी न कीजिएगा। किसी और दिन सुनाऊँगा। आज मेरा मन ठीक नहीं है। अपने से झगड़ना अन्यथा मैं नहीं चाहता। बुरा भी आप न मान लेना।"

मीला फिर भी जानती थी कि उसकी हँसी उड़ेगी। जिस बात की अवहेलना हो रही है, उसी की जिम्मेदारी वह स्वीकार कर चुकी है। वह अपनी हमजोलियों के आगे क्या जवाब देगी। यह अनुचित लाचारी है। मौंचू से वह क्या कहे। एक अजीब उलझन मन में उमड़ रही थी। यह मौंचू तो ऐसा व्यक्ति है कि अपने आगे दुनिया का कोई भी ख्याल नहीं रखता है। जैसे कि वही बहुत बड़ा हो। या अपनी बात रख लेने से उसे कुछ मिल जावेगा। वह संकुचित हो, बोली, "चले चलने में कुछ खास बात भी तो नहीं दीख पड़ती।"

"और चलकर वहाँ से हीरे जवाहरात तो बटोरकर नहीं ला सकूँगा।"

उत्तर भले ही सीधा हो, पर वक्त का नहीं था। मीला को अब और कुछ भी नहीं कहना था। अपना एक आत्म-सम्मान आगे आया। खुद ही निर्णय कर आगे अधिक अनुरोध अब वह नहीं करेगी। चुपचाप लौट आई। कुछ देर बाद मौंचू के आगे से ओझल हो गई।

इस घटना के बाद दूसरे ही दिन मीला चली गई थी। मौंचू ने तभी से अपने में ही कुढ़ना शुरू कर दिया था। और आगे सब दिन उदासी से कटने लगे थे। उन दिनों, जो सात आठ दिन वहाँ रहा, लड़कियों के गिरोह में छुपी हुई मीला को वह ढूँढ़ लेना चाहता था। यही समझकर कि शायद मीला वहीं कहीं खड़ी है। लेकिन वह वहाँ मिलती नहीं थी।

मीला ने घर पहुँचते ही एक चिट्ठी बुआ को भेजी थी, और इतनी सीधी-साधी भाषा में लिखी थी कि जब बुआ ने घर भर को वह पत्र सुनाया, तब मौंचू ने सुनकर भी ऐसा भाव प्रकट किया कि जैसे कुछ न सुन रहा हो।

वैसे मीला, रोज, हर वक्त अपनी आहट, झलक, एक अपना ख्याल, उसे सौंप जाती थी। मौंचू सोचता, क्या यही अब मीला का 'कर्तव्य' है। या वह अपने मन का झूठा घमण्ड बाहर फैलाकर परेशान हो जाता है। गुस्सा होकर गई मीला को क्या कभी वह मना बुझाकर लौटाल भी सकेगा,। वह उससे क्या कहेगा। सारी व्यवस्था सुधर सकती ?

—घटना उभर-उभर आती हैं। और अब आज—वह उसी मीला के घर में तो आया है, फिर एक और झगड़ा बढ़ाकर, मीला भाग गई है। वह पिछली बात !

मीला की छोटी बहिन ने कब कमरे में आकर ग्रामोफोन पर रिकार्ड चढ़ाया, वह न जान सका। एकाएक 'आरकेष्ट्रा' की गूँज उसने सुनी। वह उसी में बह गया। वह उस अवसर पर उचित साधन मन बहलाने का लगा।

कि मीला कमरे में आई। ग्रामोफोन से रिकार्ड उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दिया। फिर छोटी बहिन का कान पकड़, बाहर घसीटकर ले जाती हुई बोली, "कुछ काम नहीं। ले अब बजा। चल किताब पढ़ ?" कमरे से बाहर चली गई।

वैसे गुस्सा होना स्वयं गलत नहीं, यदि वह वास्तव हो। पर दूसरे को मौका देना कि गुस्से की परिभाषा समझ लो—यह बात उसे उलझाने लगी। मीला में गुस्सा कब उसने सही-सही पाया है। उसका चेहरा तो वैसा ही शान्त था। मानों वह साधारण जीवन-नाट्य का एक पहलू मात्र चित्रण कर रही हो। मौंचू अब क्या समझना चाहता था। वह स्वयं नहीं जानता। मीला के पिता अक्सर लिखते थे, इधर से भी कभी जाया करो। हमारा देहात बुरा नहीं है। और वह आया था, उसी देहात की आड़ बनाकर, अपनी मीला को देखने।

जीवन, एक साधारण सुपना ही वह सब कारोबार होता, ठीक बात थी। लेकिन अकसर 'मेडीकल-कालेज' में मुरदे के अंगों की चीर-फाड़ करते-करते, आत्मा करती थी—छी-छी-छी! वह फिर भी अपने से घृणा नहीं करता था। रोजाना-जीवन में वह ठीक नहीं होता है। फिर मीला को देख लेने के बाद आत्मा में एक ज्योति जगमगा उठी थी। और वह एक अलावा दृष्टिकोण से मुरदों को चीर-फाड़ कर देखता था। मानो वह एक बड़ दार्शनिक हो। और अपने उस दायरे में समूची 'मीला' को रोक रखने की ताकत उसमें हो। 'छोटी-छोटी' नसों, शरीर के अंग-अंग पर चाकू चलाना, सारे काम में एक उत्साह आ गया था। जैसे कोई अज्ञेय ही चुपके कान में कहता हो—यह तो एक कर्तव्य है तुम्हारा।

तब भी एक दिन वह जरूर उद्विग्न हो उठा था। एक युवती के शरीर पर उसे तेज औजार चलाने पड़े थे। वह तो उसी दिन एक डिलीवरी केस में मर गई थी। टेबुल पर सुफेद चादर से वह ढकी हुई थी। उसने चादर उठाई तो चेहरा देख कर काँप उठा। स्तब्ध वह कुछ देर खड़ा का खड़ा उसे देखता ही रह गया। अधमुँदी पलकें, उलझी हुई काली लटें, सुफेद पड़ा चेहरा और उस पर चार-पाँच शीतला के दाग। उसने उसे चादर से ढक लिया था, जैसे कि हिम्मत हार गया हो।

आखिर औजार चले। मीला की याद आयी। जैसे कि उस युवती ने सारी नारी जाति की याद दिला दी हो। याद करने के लिये मीला के अलावा प्राकृतिक नारी उसके पास और कौन थी।

हाथ रुक गया था, सोचकर, मीला को वायलिन क्यों नहीं सुनाया। वह क्या सोचती होगी। मीला भली लड़की है। कितना कम बोलती है। चुप रहती है। गुस्सा भी हो जाती है।

कैंची शरीर पर चली। उस निर्जीव नारी पर उसकी अपार श्रद्धा फैल गई। जैसे कि वह भी अपनी सगी हो। वह भी कहती लगी—मुझे ही मीला समझ लो।

नहीं—नहीं—नहीं, उसने उस स्त्री का मुँह ढक लिया था। फिर मरा बच्चा निकला। एक से, दो निर्जीव हो गए।

काम खत्म हो जाने पर वह और दिनों की तरह निश्चिंत नहीं सो सका। बार-बार मीला की याद आती थी। वह कहती लगती—वायलिन सुना दो।

आधी रात तक नींद नहीं आई, तो उसने वायलिन निकाला और बजाने लगा। बजाते-बजाते उसकी आँखें सामने दीवाल पर टँगे निरे हड्डियों के चार्ट पर पड़ी। वह मुस्कुराता लगा। उसकी हड्डियाँ भी एक दूसरे से टकराकर बजती लगीं—टुन-टुन-टुन।

वायलिन के तार टूट गए। वह पसीने से डूब गया। डरकर फिर रात भर सो नहीं सका।

लगा वह हड्डियोंवाला चार्ट पुकारता—ओ मीला! ओ मीला!! फिर—फिर—मौंचू पागल है—पागल है! बच्चा सुन्दर था—सुन्दर था!!

ऐसी थी मीला जो पहली देखादेखी में ही मौंचू पर एक गहरा प्रभाव छोड़ गई थी। मेडीकल-कालेज का सारा वातावरण—पट्टियाँ, मुर्दे की चीर-फाड़, दवा की गंध और अलग-अलग मनुष्य चित्रों की निर्जीवता में हृदय को भारी किए मीला बार-बार सुझाती—ठीक तो है।

बड़ी-बड़ी पोथियों के ढाँचेवाले चित्र, अङ्ग-अङ्ग का विवरण, सब सुझाते थे—यही है मनुष्य मौंचू।

झूठ-झूठ झूठ—! जैसे कि मीला अपनी गुलाबी साड़ी पहिने सजी, सच्चे मोतियों की माला झुलाती कहती-कहती ओझल हो जाती।

'प्रिसक्रिपशन' लिखते-लिखते कभी-कभी हाथ रुक जाता, तब याद आती बुआ के नाम आई चिट्ठी में लिखे अक्षरों की बनावट। जैसा कि वही भाषा अब वह दवा के नामों के साथ जोड़, रोगी की परवाह के साथ-साथ मीला को भी याद कर लेता हो।

मौंचू को अब लगा था कि मीला उसे चाहिए। उसकी बातें टुकराने की चाहना उसे नहीं। दो-तीन दिन साथ-साथ रहने पर ही वह उसे सही तौर पर पहचान गया था। वह अन्यथा मीला से ही क्यों झगड़ा था। वह सारी-बातें और वातावरण को तोल कर पाता कि मीला उसे चाहिए। वह उसी की है।

मीला का छोटा भाई आया था, पूछा "घूमने नहीं चलिएगा।"

"घूमने।" मौंचू ने दुहराया। जरा सभलकर पूँछा, "तेरी जीजी कहाँ है?"

"वह तो घूमने चली गई।"

बस मौंचू ने कपड़े पहिने और बच्चे के साथ बाहर निकला। छोटे-छोटे खेतों को पार करने के बाद, एक खेत की मेंड पर बैठकर, मटर की फलियाँ खाने लग गया।

मीला ने मौंचू को देख लिया था। दोनों के बीच ईख का ऐसा घना खेत था कि पास पास होने पर भी वह मौंचू के नजर की पकड़ में नहीं आ सकती थी।

अब मौंचू ने बच्चे के मुँह का बाजा ले लिया और बजाने लग गया। बचपन भले ही धोखा दे गया था, वह फिर भी अपने लिए, दुनिया के लिए, एक बार बच्चा बन गया। बड़ी देर तक उसे बजाता ही

रहा। उधर मटर की बड़ी-बड़ी फलियों की ढूँढ़ करते-करते बच्चे ने जीजी को पकड़ लिया और चिल्लाया "जीजी ! जीजी !!"

मौंचू ने नहीं सुना। वह बाजा बजाने में ही मस्त था। बच्चा दौड़ा-दौड़ा उसके पास आया और झकोरते हुए बोला, "जीजी वहाँ बैठी है, चलो।"

जब तक मौंचू वहाँ पहुँचा, मीला खेत में ईख के बीच न जाने कहाँ छुप गई थी। हताश मौंचू ने फिर बैठकर बाजा बजाना शुरू कर दिया। बच्चा खेतों-खेतों में अपनी जीजी को ढूँढ़ता हुआ घर जा पहुँचा। धीरे-धीरे रात पड़ने लगी। मौंचू वहीं बैठा हुआ था। उसे घर जाने की फिक्र नहीं थी। वह मेंड पर बैठा हुआ बाजा बजा रहा था। जैसे कि उसी तरह बजाता-बजाता रहेगा।

मौंचू चौंका, पास ही मेंड पर बहती हुई पानी की नाली में से पानी उछलकर उस पर गिरा। उसने इधर-उधर देखा, कोई भी नहीं था। अपने कपड़ों को झाड़कर, वह फिर बाजा बजाने लगा।

दूसरा ढेला पानी में गिरा। पानी से फिर उसके कपड़े भीज गए। उसने इधर-उधर ताका और चुपचाप बैठ गया।

फिर पानी उछला। मौंचू ने अब पुकारा "मीला।"

कोई जवाब न पा, बाजा एक ओर रख, चुपचाप बैठा रहा। सामने देखा, सच ही मीला चली जा रही थी। तब फिर मौंचू ने बाजा उठा लिया और बजाने लग गया।

सुफेद खिली चाँदनी में मीला जा रही थी, बाजा बजाते-बजाते मौंचू सब कुछ देख रहा था।

कुछ आगे बढ़कर मीला रुक गई। मुड़कर देखा, और खड़ी हो गई। मौंचू तो अब भी बैठा ही रहा। लेकिन मीला तो खड़ी थी।

दूर मीला उस खिली चाँदनी में एक छाया-सी लगती रही। स्पष्ट फिर भी नहीं थी। लगता कि जैसे सुफेद 'कैनवस' पर काली-काली लकीरें खींचकर एक सुन्दर और पूर्ण चित्र किसी ने बनाया हो।

मौंचू तो उठा ही नहीं। बड़ी देर हो गई थी। उसने फिर देखा मीला की छाया उसकी ओर सरकती आ रही है। और वह तो उसके पास पहुँचकर बोली, "क्या रात यहीं काट लेने की ठहराई है ?"

"क्या हर्ज है मीला।"

मीला जानती थी कि वह अर्थहीन बात है। सच कहाँ था। चुप इसीलिए रही।

कुछ देर बाद मौंचू बोला, "मीला।"

मीला ने मौंचू को देखा। आँखें ऊपर उठीं और मौंचू की आँखों में समा गईं। आज भी मौंचू से उसे कोई लाज नहीं, शरम नहीं। वह गैर थोड़े ही है।

"मीला तू गुस्सा है।"

मीला गुस्सा हो—हो, मौंचू से मतलब। तुनककर बोली, "भला क्या बिगड़ता है आपका।"

"मीला !"

"क्या ?"

"जिन्दगी एक कल्पना नहीं। जो अप्रिय है, वही सत्य है।"

"कल्पना और सत्य ! यह अपनी 'डायरी' में लिख लीजिएगा। अब तो शायरी भी शुरू कर दी है। चलो रात हो आई है।"

"कह दे तू नाराज नहीं।"

"मैं नाराज ! अपने घर पर आए मेहमान से.....।"

"तू जरूर गुस्सा है मीला।"

"नहीं—नहीं।" मीला धीमे स्वर में बोली, बड़ी रात हो गई है चलो। बस भाग गई।

मौंचू अवाक् रह गया। पगडंडी पर हरी-हरी घास उगी थी। इधर-उधर खेतों में ईख खड़ी थी। पास बहता पानी का नाला। ऊपर खिली चाँदनी और भागती हुई मीला।

बड़ी देर तक मौंचू खड़ा का खड़ा ही रह गया। सोचता-सोचता

क्या मीला का बचपन कभी नहीं छूटेगा। नारी का बचपन ? क्या मीला रोज इसी तरह भागती राह दिखलावेगी। वह विश्वास कैसे कर ले। फिर मीला एक कुतूहल क्यों बखेर जाती है। भाग गई कहकर—आ-आ, मौंचू ! मैं राह बतावूँगी, तू भी चल-चल !! तू मेरा मेहमान है और मैं तेरी.....।

मीला ! वह मीला के पास क्यों आया। अब क्या चाहता है उससे। मीला उसे क्या दे सकती है। यदि वह और मीला चाहें, तो दुनिया से दूर, अकेले इन खेतों के बीच ही रहकर क्या जीवन का भावी सफर पूरा नहीं कर सकते हैं। वह मीला अपने में क्या सोचती होगी। क्या वह जीवन में उसके इतने नजदीक आई है।

अब वह मीला के मकान के पास पहुँच गया। दरवाजे के पास मीला खड़ी मिली। वह बोली, "बड़ी देर लगाई।"

मौंचू को कोई जवाब नहीं सूझा।

"सब लोग आपका इन्तजार कर रहे हैं।"

"मेरा !"

"हाँ, यहाँ गाँव के लोग बुद्धुओं को शहर में ले जाकर बेच आते हैं।" कह, हँस पड़ी और अन्दर खिसक गई।

मौंचू ने कपड़े उतारते हुए सोचा कि वह 'बुद्धू' भी है। बहुत पहिले बचपन में 'प्रायमरी' स्कूल में उसे यह पदवी मिली थी। आज मीला के मुँह से वह सुन कर उसे खुशी हुई।

रात-भर मौंचू गहरी नींद में सोया रहा, जैसे कि जीवन की कोई भारी आकांक्षा पूरी हो गई हो।

सुबह उठा ही था कि देखा, मीला रस का गिलास लिए खड़ी थी। उसने गिलास ले लिया। मीला चली गई। मौंचू ने एक घूँट पीकर मुँह बिचका लिया। बस, गिलास मेज पर रख दिया। मीला दरवाजे की आड़ से सब देखती हुई अन्दर चली गई।

मौंचू ने काँच के पारदर्शी गिलास पर भरे हुए उस हरे-हरे रङ्ग के रस को देखा। उसमें पूरी मिठास थी। वह सब मीला खुद अपने हाथों से पीने के लिए सौंप गई थी। लेकिन वह तो एक घूँट की मिठास तक न सह सका।

मीला का छोटा भाई कमरे में आया। मौंचू ने उसे पुचकारकर पूछा, "दोस्त चाय-वाय भी मिलेगी।"

बच्चा बोला, "जीजी से पूछता हूँ जाकर। वह तो कहती है, चाय से तन्दुरुस्ती खराब होती है। इसीलिए सब शरबत पीते हैं।"

मौंचू हँसते बोला, "आज ही नया कानून तो नहीं बना है।"

मीला सिर्फ छेड़ने भर के लिए शरबत का गिलास सौंप गई थी। वह जानती थी कि मौंचू पी नहीं सकेगा। लेकिन मौंचू तो चाहता था कि सब गट-गट कर पी जावें।

कि बच्चे ने सुनाया, "जीजी आजकल अंग्रेजी पढ़ती हैं।

बच्चा देखता था कि मीला आजकल कुछ अजनबी अक्षर 'कापी' पर लिखा करती है। जो उसकी हिन्दी-प्रायमरी में नहीं मिलते। वह अंग्रेजी कहलाती है।

मौंचू ने मजाक में कहा, "तू झूठ बोल रहा है।"

भला सच बात को कोई कैसे झूठा साबित कर दे। वह बोला, "मैं कापी दिखला सकता हूँ।"

मौंचू फिर बोला, "बिल्कुल झूठ है?"

बच्चा अपने को झूठा साबित करना नहीं चाहता था। वह दौड़कर भीतर पहुँचा और कापी लेने चला गया।

इस बीच मौंचू ने शरबत का गिलास खिड़की से बाहर फेंक दिया। गिलास रख रहा था कि देखा, सामने की खिड़की से मीला देख रही है। वह चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया और सिगरेट निकाल सुलगा ली।

मीला का भाई कापी ले आया था। मौंचू मीला के लिखे अक्षरों

की सावधानी से जाँच करने लगा। मीला कब भीतर चली आई, उसे मालूम नहीं हुआ।

मीला बोली, "यह चोरी भी सीख गए।"

मौंचू ने उलझन में मीला को देखा और कहा, "चोरी?" मीला ने कापी छीन ली, फिर पूछा, "इसे कौन लाया।"

बच्चा फुरसत पा, कभी का खिसक चुका था।

मौंचू बोला, "मीला तुम तो अच्छा लिख लेती हो।"

मीला ने बात पलटकर कहा, "शरबत नहीं पीना था, तो ना कर देते। बहकाने फेंक क्यों दिया।"

"तेरी डर से।"

"मेरी!"

"हाँ, मीला।"

मीला निरुत्तर हो गई। झगड़ने की और गुंजाइश नहीं थी।

मौंचू ने मीला के हाथ से कापी छीन ली, कहा, "बैठो।"

मीला पास कुर्सी पर बैठ गई। मौंचू ने कापी खोली और अपनी जेब से फाउन्टेनपेन निकालकर अक्षर दुरुस्त करके समझाने लगा कि ऐसे अक्षर लिखे जाने चाहिए।

मौंचू को कुछ कहना जरूरी था। वह चुप कैसे रह सकता। कहना शुरू किया, "मीला अक्षरों से मनुष्य का 'अपनत्व' पता लगता है। उसकी लापरवाही, उसकी दृढ़ता, उसका साहस—लिखे अक्षरों के कोणों से साफ-साफ मालूम होता है।"

मीला को यह सब न समझना था, न वह समझी। और न वह सब कुछ ध्यान से सुन रही थी। यह कैसा सबक था? वह जैसे अनजान थी। पहली किताब की तरह अनजान। जिसे बच्चा खिलौने की तरह सँवार कर रखता है। पहिले उस पर जिल्द लगाकर हिफाजत करता है। आगे उसी से लापरवाही से खेलने लगता

है। उतनी सावधानी उसके प्रति नहीं बरतता है। समझ कर कि वह खास मूल्यवान् वस्तु नहीं है।

एकाएक मीला उठ बैठी। अपनी गिरी सारी का छोर ठीक तौर से सिर पर सँवारा। कहकर, "चाय ले आऊँ। मैं तो भूल ही गई थी।" चुपचाप चली गई।

मौंचू तो जैसे कि मीला को कभी नहीं समझ सकेगा। यह बात अनजाने उसके मन में उठी। लगा, मीला हमेशा एक पहेली, एक रहस्य ही उसके लिए रह जावेगी। जितना ही वह अपने को मीला के नजदीक समझता है, उतना ही मीला उससे दूर लगती है। वह मीला को पकड़ नहीं पाता।

दार्शनिक के समान उसने सिगरेटकेश से सिगरेट निकाल कर सुलगा ली। उसी के सहारे वह एक नई बात ढूँढ़ने तुल गया, जिसे कि वह आज तक नहीं जान सका था। उसी तरह धुएँ के बीच वह गहरी चिन्तन में पड़ गया। आज एक नई खुशी मन में थी। वह कुछ अपने दिल में टटोल रहा था। एक अज्ञात विश्वास के लिए वह अब चिन्तित था शायद वह उसे पा लेवे.....।

मीला ने कमरे में आकर देखा, मेज पर सिगरेट सुलग रही थी। साथ-ही-साथ उसका बुना हुआ मेजपोश भी धुँआ दे रहा था। उसने चाय मेज पर रख दी। मौंचू ने अब मेजपोश देखा। मीला तो खड़ी ही थी। दोनों चुप रहे। कोई कुछ नहीं बोला। मौंचू ने चाय की प्याली उठाई, चाय उँडेली और अनजान बनकर पीने लगा, जैसे कि उस मेजपोश से उसे कोई वास्ता नहीं हो—न सिगरेट से वह चाय पीना चाहता था, मिल गई। उसे पीकर अब वह कुछ नहीं सोचेगा। सही तो अब सिर्फ चाय की चुस्कियाँ थीं। वह हर तरह सावधान भी हो गया।

मीला की आँखें तो मेजपोश पर लगी हुई थीं। वह सोच रही थी, वह लाल-लाल बड़ा हुआ फूल ही क्यों जला है। वही तो उस पर

सजता था अब मेजपोश बिल्कुल बेकार-सा है। मन ही मन उसे मौंचू पर गुस्सा आया। कह तो वह कुछ भी नहीं सकती थी। अपने भीतर कुढ़कर रह गई।

अब जाकर मौंचू समझा कि मीला अपने मेजपोश के लिए दुःखी है। वह बात सुलझाने के लिए बोला, "आगरा अच्छे-अच्छे मेजपोश मिलते हैं। अब के लौटते हुए कुछ ले आऊँगा।"

मीला चुप नहीं रही। सुनाया, "वे बाजारू मेजपोश आपको ही मुबारक हों।"

फिर मौंचू ने अपना पक्ष लिया, "नए-नए डिजाइन के अब तो मार्केट में आ गए हैं।

"अपने लिए खरीद लीजिएगा। हमारे लिए यही अच्छे हैं।" बिना जवाब सुने ही वह चली गई।

कुछ देर बाद घर का नौकर आया और मेज पर से मेजपोश उठा कर उस पर बाजार का छपा हुआ मेजपोश बिछाने लगा। मौंचू ने उससे मेजपोश माँग लिया। उसने एक कोने में अपने दस्तखत छोटे-छोटे सुन्दर अक्षरों में किए।

नौकर के चले जाने पर उसने सुबह का अखबार उठाया और पढ़ने लग गया।

मीला के भाई ने आकर बाजा माँगा। उसे देते हुए पूछा, "तेरी जीजी क्या कर रही है।"

वह बोला, "मेजपोश पर फूल काढ़ रही हैं।"

मौंचू बोला, "जाकर कहना, बहुत काढ़ने से आँखें फूट जाती हैं।"

बच्चा सवाल लेकर तो गया, पर जवाब कुछ भी नहीं लाया। मीला कुछ बोली ही नहीं थी। तो फिर बच्चे ने अपनी बात शुरू कर दी कि वह एक खेत में बड़ी-बड़ी मटर की फलियाँ देखकर आया है, मौंच चलेगा।

लेकिन मौंचू ने कहा, "अपनी जीजी के साथ जाना। मैं तो साँझ की गाड़ी से चला जाऊँगा।"

मीला ने जब यह सुना, तो वह कुछ बोली नहीं। जानती तो थी वह कि छुट्टी निपट चुकी है। मौंचू जावेगा ही। आज तक उसे यह ध्यान ही नहीं रहा है। आज एकाएक सुनकर चौंक पड़ी।

और उसी संध्या को मौंचू चला गया था।

'फाइनल' की वजह से मौंचू को पढ़ाई से फुरसत ही नहीं मिलती थी। कभी-कभी मीला की चिट्ठी आतीं और वह चार सीधी लाइनों में जवाब दे देता। मीला तो घूमाफिरा, दुहरा-तिहरा कर न जाने क्या-क्या लिखती थी। बीच में बार-बार माफी माँग लेना भी उसकी आदत बन गई। कहीं-कहीं पर लाइनें इतनी बुरी तरह कटी होती थीं कि 'माइक्रसकोप' से भी, धब्बों के अलावा छुपे अक्षरों का रहस्य मालूम नहीं हो पाता था।

जिन्दगी के दिन तो कट ही जाते हैं। एक-एक दिन बीत भी जाता है। मनुष्य कुछ भी समझ-बूझ थोड़े ही सकता है। महीना निपट जाने पर कैलेंडर का पन्ना फाड़, नए पर आँखें गड़ते देर कितनी लगती है। यही है हमारा कर्तव्य और न्याय। वैसे अपनी मुसीबतों और परेशानियों के अलावा कुछ भी सोचने-समझने का सवाल ही नहीं उठता है। मौंचू और मीला के बीच एक अरसे तक चिट्ठियाँ चलती रहीं, फिर एकाएक मीला के पत्र आने बन्द हो गए। मौंचू ने इसका कुछ भी खयाल नहीं किया। आठ महीने बात की बात में कट गए।

उस दिन मौंचू रात को एक मुरदे को चीर-फाड़ करता हुआ 'हाल' में अपना सबक याद कर रहा था। औजार, बार-बार चलता थका नहीं था। यह नई बात थोड़े ही थी। वह चुपचाप खड़ा था कि उसने देखा, मुरदा उठ बैठा और चिल्लाता लगा, "मीला! ओ मीला!!"

मौंचू सन्न रह गया। घबराकर वह दूसरे कमरे में चला गया। वहाँ और साथियों से सब हाल कहा। वे बोले, यह आश्चर्य की बात नहीं

है। अक्सर फेफड़ों में हवा भर जाने से मुरदे इसी तरह उठ बैठते हैं।

रात को उसे ठीक तरह नींद नहीं आई। बल्ब उसने बुझाया ही था कि देखा, सामने जो सिर की हड्डियों वाले ढाँचे का चार्ट है। उसकी आँखें एकाएक चमक उठीं। उसका मुँह खुल गया। वह चिल्लाया "मीला ! मीला!!"

वह घबड़ा उठा। उसने साफ-साफ कई प्रतिध्वनियाँ सुनीं। चारों ओर से मीला ! मीला !! सब कोई पुकार रहे थे।

उसने बल्ब बाल लिया। और हड्डियों के बने शरीर वाले चार्ट पर नजर फेरी। उसकी हाथ की हड्डियाँ बार-बार मीला का नाम लिख रही थी।

अब वह सँभल गया। उसने आलमारी खोली। अपना मनीबेग निकाल, ओवरकोट ओढ़ लिया और चुपचाप स्टेशन की ओर रवाना हो गया।

अगली सुबह वह मीला के गाँव उतरा। चुपचाप मीला के घर की ओर बढ़ा। दरवाजे पर देखा कि मीला के पिता खड़े थे। मौंचू को देखकर अवाक् रह वे बोले, "आपने इत्तिला भी नहीं दी। गाड़ी भिजवा देते।"

अब वह चुपचाप बाहर गोल कमरे में मीला के पिता के साथ बैठा हुआ था कि मीला के छोटे भाई ने आकर अपने पिता से कहा, "जीजी बुला रही है।"

मौंचू की समझ में बात नहीं आई। मीला का पिता तभी बोला, "चलो।"

और मौंचू ने मीला के कमरे में जाकर देखा कि वह पीली, सुफेद बिस्तर पर लेटी हुई थी। मौंचू को देख एका-एक उठी, बोली, "मैं जानती थी कि तुम जरूर आओगे।"

थकी-माँदी लेट फिर गई। उसे गश आ गया था।

मौंचू यह सब देखने नहीं आया था। यह परिस्थिति उसके जीवन में पहले-पहल आई थी वह खड़ा सब कुछ देखता ही रह गया।

डॉक्टर ने मीला को देखा। उसकी 'पल्स' टटोली। उसके पिता के कान में कुछ कहा। मौंचू सब और सारी बात समझ गया। वह यह सब सह नहीं सका। चुपचाप बाहर चला आया। जाने की तैयारी में था कि मीला के भाई ने पुकारा। वह रुक पड़ा। उसने मौंचू के हाथ में एक लिफाफा दिया। बोला वह, "जीजी ने डाक से छोड़ने को कहा था।"

मौंचू ने लिफाफा जेब पर ठूँस लिया। चुपचाप स्टेशन की ओर बढ़ गया। गाड़ी में उसने लिफाफा फाड़ कर पत्र पढ़ा, लिखा था:—

मौंचू,

क्या मालूम था कि हम इस तरह अलग-अलग होवेंगे। मेरी माँ ने कहा कि तुम्हारी माँ नहीं चाहती है कि छोटे घर की लड़की से तुम्हारा विवाह हो। लेकिन तुम तो बड़े नहीं हो। तुम में घमंड भी नहीं है। हमारा शायद इतना ही रिश्ता था। बुरा न मानना हाँ—

मौंचू की ही,

मीला।

मौंचू ने सिगरेट सुलगा। फूकने लगा। सुलगती हुई दियासलाई चिट्ठी से लगा, चिट्ठी खिड़की से बाहर फेंक दी।

मनोवैज्ञानिक पहलू

"मुझे तुम्हारी जरूरत थी प्रोफेसर" सुबोध ने तपाक से हाथ मिलाते कहा "मैं अकेला यहाँ ऊब भी गया था। चाहता था, कोई ऐसा साथी मिल जाये, जिसके साथ चैन से कुछ दिन काटता आराम से पड़ा रहूँ। आज तक बिलकुल फुर्सत नहीं मिली। तुम्हारी धुँधली याद दिमाग में थी। पुराने पते पर इसी लिए चिट्ठी डाली। एक अरसे तक जिसके साथ रहा, वह आवेगा सन्देह था। अपनी उम्मीद की अवहेलना को ठुकरा, मैं सोचता हूँ कि तुमने आकर मुझे उबार लिया है।"

कह कर सुबोध चुप हो रहा। प्रोफेसर ने सुबोध की बात सुनी; फिर जरा समझ कर कहना शुरू किया, "तुम यहाँ पड़े होगे, मैंने यह न सोचा था। क्या तुमको दुनिया के बीच रहकर, चलना नहीं था?"

"नहीं-नहीं।" सुबोध ने जोर से कहा, आगे चुप हो गया। प्रोफेसर की ओर आँखें उठा, उसे खूब देखा। फिर आँखें मूँद कुछ सोचने लगा। आखिर बोला, "चलो।"

दोनों अन्दर कमरे में बैठ गये। सुबोध ने सिगार प्रोफेसर को दिया और खुद भी दूसरा सुलगाया। सिगार और धुएँ का बहाना पाकर दोनों ही चुपचाप रहे। सुबोध ने अब बात शुरू की, "यहाँ इतनी दूर कोई नहीं आता है। माना, कोई आ भी जाये, टिकता नहीं। यहाँ के वातावरण की एकान्तता उसे डस लेती है। मुझे भी ज्यादा फिक्र नहीं रहती। मैं वह मोल लेने का कायल नहीं। बेकार की तवालतें भले आदमी साथ नहीं रखते हैं। किन्तु यह जगह मुझे पसन्द है। यहाँ का व्यक्तित्व मेरा ही है। यहाँ से बाहर जा, दुनिया के बीच चलने-फिरने का सवाल दिल में कभी नहीं उठता है। लोग चाहते हैं, दुनिया के बीच अपनी जगह बना लेना। मैं उनसे भिन्न हूँ।"

"भिन्न.....!" प्रोफेसर ने दुहराया।

"शायद तुमको याद नहीं है। कभी मैंने तुमसे कहा था। मेरा हृदय कुछ अजीब कीटाणुओं की बस्ती लिये है। साधारण आदमी के चलते खून में पीले और हरे कीटाणु बराबर होते हैं। मैं उनमें न था। एक दिन डाक्टर ने हृदय की परीक्षा लेकर कह दिया, तुम जिन्दा नहीं रह सकते हो। तुम्हारे हृदय के पीले कीटाणुओं को हरेवाले खाते जा रहे हैं। एक दिन आयेगा जब सारे पीले कीटाणु खतम हो जावेंगे, और तुम.....।"

"तुम...।" प्रोफेसर ने आश्चर्य में दुहराया।

"इसमें शक क्यों उठता है। यही न, या तो मर जाऊँगा अथवा कहीं पागलखाने की हवा खानी पड़ेगी।"

कह कर सुबोध ने सिगार उठा कर मुँह से लगा लिया। इतमिनान से सोफा पर लधरा, जैसे कि यह बात कह कर वह कुछ देर चुप रहेगा। और प्रोफेसर बात की गहराई पर उतरने लगा। वह उलझन में था कि इतनी सीधी कही बात है क्या। किस तथ्य पर वह उतरेगा। उचित या....? सुबोध हड्डियों में सीमित-भर प्रोफेसर को मिला। उसका पीला चेहरा, गड्ढे में घुसी आँखें! आकृति की पहचान उसे थी, अन्यथा एकाएक सुबोध है कह, वह अपने को ठग लेता। काली धारीदार कोट-पैण्ट में सुबोध ऐसा लग रहा था, जैसे वह यदि बाहर के लोगों के बीच एकाएक पहुँच जाय, तब बाहर के लोग इस अजनबी जन्तु को देखने को कुछ देर खड़े रह जावेंगे। इसे देखकर हरएक अपनी राय देगा। उसकी आँखों के आकर्षण पर सब टिक जावेंगे। उनकी अनुमति के बीच....., इस इतनी बड़ी दुनिया में.....?

"लेकिन, न मैं पागलखाने गया, न मरा। वैसे इतना अलग हूँ कि मौत का दायरा भी इसके आगे हार जावेगा। दिल के खून में कीटाणुओं का जिक्र मैंने अभी किया। मैं उनसे दिलचस्पी लेने लगा। जान लेना चाहता था कि वह छोटे-छोटे 'माइक्रिसकोप' की पकड़ में

आनेवाले कीटाणु क्या हैं ? जो इतनी बड़ी दुनिया को खेल बनाये हैं। उनकी शक्ति क्या है। जरूरत पर यदि उनकी पैदायश की जा सके, तब क्या होगा ? वैसे बात छोटी है—साधारण। पीले और हरे कीटाणु एक दूसरे पर ऐसा अधिकार रखते हैं कि कोई भी दूसरे के आगे अपने को कमजोर साबित होने का मौका नहीं देता है। एक दूसरे को खा लेने की ताक में रहता है। और एक दिन जब एक का नाश हो जाता है, तब मनुष्य की शक्ति चुक जाती है। लोग यह भेद न जानकर कह देते हैं, वह मर गया। मैं यह मान लेने को तैयार नहीं। जरा-जरा बातों पर जिन्दगी का हिसाब-किताब टिका रहता है। कुछ काम करने को मन नहीं करता। एकान्त-प्रियता पसन्द है, भारी दुख-पीड़ा दिल को घेरे रहती है। समझ लो, पीले कीटाणु हरों पर अधिकार जमा रहे हैं। दिल की उस छोटी जगह के इस खेल से दुनिया अनजान है। डाक्टर इलाज करता हुआ भी नहींजानता कि बात क्या है। यों ही समझ लो कि तुम तो ज्यादा खुश हो, तब हरे कीटाणु बढ़ रहे हैं। हम कह देते हैं कि दूसरे का प्रभाव हम पर पड़ा है। बात यह है कि उसके हरे कीटाणुओं में यह ताकत है कि वह हमारे शरीरवालों पर अपना कब्जा कर लेते हैं। जैसे कि ज्यादा शक्तिवाला चुम्बक, कमवाले को अपने में समा लेता है।"

"सुबोध !" प्रोफेसर ने बात कुछ भी न समझते हुए कहा "तुम क्या कह रहे हो यह। दुनिया से दूर, क्या यही सब सीख लेने के लिए आज तक तुम पड़े रहे। और यह सब ढूँढ़कर तुम क्या अब कर लेना चाहते हो।"

"क्या ?" कह सुबोध हल्के मुस्कराया, "जानते हो क्या चाहता हूँ मैं। यही कि एक दिन अपने शरीर के कीटाणुओं को इतना बलवान बना दूँ कि सारी दुनिया पर हुकूमत कर सकूँ।" कहकर सुबोध उठकर धीरे-धीरे इधर-उधर टहलने लगा। फिर 'ऐश ट्रे' से सिगार उठा, मुँह पर लगाया। प्रोफेसर चुपचाप बैठा था। अपने को भूलता हुआ

सुबोध पर भी कुछ न सोच सका। उसे ऐसा लगा कि उसके दिल की धुकधुकी के बीच हजारों हरे और पीले कीटाणु खेल रहे हैं। उसी खेल के साथ उसकी जिन्दगी चालू है। उन पर ही वह टिका है। और वे आखिरी खेल खेलकर उसे समाप्त कर देवेंगे। वह कुछ नहीं हैं। उस खेल का अचेतन व्यक्तित्व....., जहाँ अनजाने खेल शुरू हुआ, होता रहा और हो रहा है। वह मात्र उस लगाव के बन्धन में उतना ही है, जितना खेल के कानूनों के भीतर।

कि सुबोध ने ध्यान बँटाया, "प्रोफेसर तुमने कभी यह नहीं सोचा होगा। अपनी किताबों और कालेज में लड़कों से वास्ता रख, तुमको कुछ और करना नहीं था। लेकिन...? जानते हो.....। एक छोटी बात को लेकर फजूल कोई आगे भी नहीं बढ़ता। खैर उठो, हाथ मुँह धोकर सुस्ता लो। इतने लम्बे सफर के बाद तुम थक गये होगे। मैं .. ..? जिन्दगी का इतना बड़ा सफर करके भी आज स्वस्थ हूँ। मुझे थकान महसूस नहीं होती है। मैं ऐसी धातु का बना हूँ, जहाँ कुछ भी असर नहीं होता।" कहना बन्द कर सुबोध ने मेज पर धरी हुई घंटी का बटन दबाया।

एक उन्नीस-बीस साल की युवती भीतर आई। सुबोध बोला, "गौरी, प्रोफेसर आ गये। इनके रहने को इन्तजाम कर देना।"

प्रोफेसर गौरी के साथ बाहर आया।

सुबोध अब कुछ निश्चिन्त हुआ। कमरे में चुपचाप घूमता-फिरता रहा। प्रोफेसर एकाएक आवेगा, उसे विश्वास न था। उसने बुलाया था, लेकिन इतनी जल्दी उसे सँभाल लेने को वह कुछ तैयार अपने को अभी न पाता था। किन्तु जिस प्रयोग के साथ वह अब तक खेला, जिसके लिए दुनिया से दूर रहा, और आज इतने साल काटकर अपने पर अफसोस नहीं करता उसके लिए प्रोफेसर को बुलाना आवश्यक था।

उधर प्रोफेसर गौरी के साथ बाहर आया। गौरी के आकर्षण ने प्रोफेसर के दिल में 'कुड़कुड़ाहट' शुरू कर दी। वह चुप था—रहा।

गौरी रुकी। एक कमरे का दरवाजा खोलकर बोली, "यह आपका कमरा है।"

प्रोफेसर ने कमरा देखा। बिलकुल साधारण। कुछ जरूरी सामान के अलावा और कोई खास चीज न थी।

गौरी ने फिर कहा, "आपको चाय का इन्तजाम करवा दूँ। आप हाथ-मुँह धो लें।" चुपचाप बाहर चली गयी।

गुसल से निपटकर वह कुर्सी पर बैठ गया। एक युवती चाय लायी। मेज पर रखते हुए कहा, "गौरी जीजी ने भेजी है।" और चली गयी।

प्रोफेसर ने उस जाती हुई युवती को देखा, जो अपनी आहट बखेर कर चली गयी। उसने चुपचाप चाय की प्याली बनायी। एक चुस्की ली, दूसरी, तीसरी.....

कि दूसरी युवती आयी और मेज पर मिठाई की और मेवों की तश्तरी रखकर फल, नमकीन दूसरी ओर सँवारने लगी। चुपचाप जाने को थी कि प्रोफेसर ने पूछा, "क्या सुबोध चाय पीने नहीं आवेगा?"

उस युवती ने एक बार प्रोफेसर की ओर देखा, फिर अपने सिर का आँचल सँवार, बिना कोई उत्तर दिये ही बाहर चली गयी।

प्रोफेसर ने प्याला उठाया। एक घूँट पीकर मेज पर रख दिया। भूलभुलैया में पड़ा कि इस घर की सभ्यता क्या है। मेहमान के साथ का बर्ताव! सुबोध क्यों नहीं आया। अपनी उलझन में था कि तीसरी युवती आकर बोली, "गौरी जीजी ने कहा है, आप चाय पी लें। वे कुछ देर में आवेंगे।

'गौरी जीजी ने!' प्रोफेसर अपने मन में गुनगुनाया। लेकिन वह युवती खड़ी न रही। यह कहकर चुपचाप बाहर चली गयी थी। गौरी और उन युवतियों को जैसे कि प्रोफेसर से कोई वास्ता नहीं था सुबोध

और उन पर सोचता प्रोफेसर उनमें ही खो गया। कहीं कुछ भी उसको समझ में बात न आती थी। और सुबोध ने आकर जब प्रोफेसर का ध्यान बँटाया, तब उसने देखा कि चाय का प्याला ठण्डा हो गया है। सुबोध बोला, "फिलासफर चाय तो पहले पी लेता। इस इतना बड़ी दुनिया की बातें सोच लेने को और भी वक्त बाकी है। उनकी पकड़ में आ जाना ठीक नहीं। उनसे अलग जो रहा, वही आदमी है। खैर.....।" दूसरे प्याले में चाय उड़ेलते हुए पुकारा, "गौरी ? गौरी ??"

गौरी आयी। सुबोध बोला। "श्यामा, इन्दु, मायी, रज्जो कहाँ है।"

गौरी सबको बुला लायी सुबोध ने फिर सिगार मुँह पर लगा लिया। सब लड़कियाँ चुपचाप बैठी थीं। चाय चली। चलती रही। प्यालों, तश्तरी, चम्मचों की आवाज के अलावा कोई शब्द न हुआ। चाय निपटी। एक-एककर सब युवतियाँ चली गयीं। गौरी अब भी बैठी थी। सुबोध ने बातें शुरू कीं, "कहो, हमारे लिए क्या लाये हो।"

"क्या...?" अटककर प्रोफेसर ने सुबोध की ओर टकटकी लगा कर देखते हुए कहा।

"गौर तुम अब जाओ।"

गौरी चुपचाप चली गयी।

अब सुबोध ने कहना शुरू किया, "गौरी मुझे पसन्द है, प्रोफेसर। इस गौरी को मैंने ग्यारह साल को उम्र से पाला है। और जानते हो, इतनी सारी लड़कियाँ कहाँ से आयीं। सब गौरी साथ लायी है। जब कभी गौरी बाहर जाती है, किसी-न-किसी अनाथ को साथ लाती है। मैं ना नहीं करता। घर की सारी व्यवस्था इसी के सुपुर्द है। यह सब युवतियाँ और गौरी, इस वातावरण की निराशा को हर लेती हैं। इनकी चुहल के बीच, कहीं कुछ कमी महसूस कर लेने का मौका नहीं मिलता है। इसी वजह से ज्यादा फिक्र नहीं घेरती है। फिर भी तुम्हारा आना जरूरी था। एक दोस्त, जिसके साथ जिन्दगी का काफी लम्बा अरसा काटा, उसे देख लेने को जी तड़फता था। तुमने आकर मुझे उबार

लिया। यह अहसान भूल नहीं सकूँगा।"

सुबोध चुप हो गया। वह अपने उस अहसान में पसरता हुआ प्रोफेसर के दिल की भावनाओं को उठाना चाहता था। उन उदित भावनाओं की अपेक्षा में अपने को रला वहीं रहने की फिक्र उसे थी। जैसे कि अपनी चाहना की उदासीनता में अलग न होगा। यह खयाल उसका था। उधर प्रोफेसर समस्या बने, सुबोध पर कोई निजी राय कायम न कर सका।

"तुम चुप क्यों हो प्रोफेसर।" सुबोध ने आँखें उठा, प्रोफेसर की ओर देखते कहा, "उठो, अभी तो तुमको बहुत कुछ देख लेना बाकी है।"

सुबोध उठा। प्रोफेसर को साथ ले अपनी 'लेबोरेटरी' की ओर चला। रास्ते में बोला, "लेकिन दिल के कीटाणु अकेले कुछ नहीं कर सकते हैं। दिमाग का भी उनसे सम्बन्ध है। ये कीटाणु दिमाग की छोटी-छोटी नसों में भी खेलते हुए लड़ते रहते हैं।"

प्रोफेसर को कुछ कहना नहीं था, दोनों 'लेबोरेटरी के पास पहुँच गये थे। सुबोध ने ताला खोला। एक छोटे-से कमरे में दोनों दाखिल हुए। प्रोफेसर ने देखा : दीवाल पर एक बड़ा चित्र टँगा था और पास ही एक चार्ट। सामने खुली आलमारी पर बड़े-बड़े ढके 'टब' सँवारे धरे हुए थे।

सुबोध ने पूछा, "जानते हो इसे?"

"हाँ! हाँ!!" प्रोफेसर आश्चर्य से बोला।

"इसे घमण्ड था कि यह बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ है। दुनिया-भर को कई सीखें देकर खुद विपरीत चलता था। दिन को कहता था, शराब बुरी चीज है। और रात्रि को शराब पीकर खूब ऐश करता था।"

"सुबोध!" प्रोफसर ने टोका।

"तुम भी तो यह नहीं जानते थे। दुनिया अन्धों की तरह इसके पीछे चलती थी। एक दिन गौरी उसे फाँसकर जब लायी, तब अखबारों

में छपा—विपरीत दलवालों ने 'उसकी' हत्या कर डाली है।"

"सुबोध !" प्रोफेसर फिर बोला। जैसे अपने विश्वास की अव-हेलना वह न सह सकेगा।

"और उस बड़े दिमाग को लाकर गौरी ने कहा था—आओ, हम-तुम इसके दिमाग और दिल से खेल खेल लें। तुमको अब भी विश्वास नहीं है।" सुबोध ने दीवाल पर लगा एक 'पलक' दबाया। खटके के साथ एक तख्ता बाहर निकला। उसमें काँच का बड़ा सन्दूक था। प्रोफेसर ने देखा : वह राजनीतिज्ञ की लाश थी। वह अवाक् रह गया।

"हमारी आज की सभ्यता की बड़ी जरूरत है, दुनिया को धोका देना। उनके आगे चिकनी-चुपड़ी बातें करना। जानते हो इसकी सबसे बड़ी ख्वाहिश क्या थी।" कह सुबोध ने प्रोफेसर की आँखों में अपनी आँखें डुबो कहा, "यह चाहता था कि सारी दुनिया की दौलत पर कब्जा कर, तमाम युवतियों को किले में बन्दकर ऐश करना। काश कि उसकी हवस पूरी होती !"

"आखिर यह यहाँ आया कैसे ?" प्रोफेसर ने सवाल किया।

"क्या गौरी सुन्दर नहीं। उसका आकर्षण एक बड़ा हथियार है। छः महीने इसके साथ हमने कई प्रयोग किये। एक दिन वह हमें मरा मिला। यह देखो।"

प्रोफेसर ने देखा कि उन काँच के टबों में किसी तरल पदार्थ के अलावा कुछ नहीं है।

फिर प्रोफेसर ने 'माइक्रासकोप' से देखा। पहले पर हरे और पीले कीटाणु खेलते लगे। दूसरे पर बड़े-बड़े पीले कीटाणु हरों को खा रहे थे।

"जब वह पहले आया, तब की हालत और आखिरी हालत.....। वह निराशा प्रेमी होकर मरा।" कहकर सुबोध ने आलमारी से एक डिब्बा निकाल, खोल कहा, "देखो।"

प्रोफेसर ने 'माइक्रासकोप' से देखा ; दो नसें एक-दूसरे से लिपटी थीं। एक कुछ हरापन लिये थी और दूसरी बिलकुल पीली।

"उनका असर यहाँ तक पड़ा कि दिमाग ठीक बात न सोच सकता था। अपने पर अधिकार न रख सका। सारी नसों को पीले कीटाणुओं ने घेर लिया। और वह.....!"

प्रोफेसर ने 'माइक्रासकोप' अलग हटाया। सुबोध ने सब चीजें सँवारकर रख दीं। दूसरे कमरे की ओर बढ़ते हुए बोला, "गौरी अच्छे चित्र बना लेती है। वह 'आयल-पेण्टिंग' उसी का बनाया हुआ था। वह पहचान लेने की एक भारी सामर्थ्य भी रखती है।"

प्रोफेसर कुछ नहीं बोला।

दूसरे कमरे में पहुँचकर उसने देखा कि एक बहुत सुन्दर युवती का 'पेण्टिङ्ग' टंगा है। वह युवती इतनी सुन्दर थी कि फोटो पर से आँख अलग न हटती थी। बिलकुल सजीव। लगता अभी-अभी वह बातें शुरू करेगी।

सुबोध बोला, "हजारों इसके पीछे पागल थे। यह किसी को भी अपने में जगह न देती थी। इतनी होशियार कि किसी से इसने अपने दिल की बातें नहीं कहीं। हजारों को लूटा। अपने व्यापार के सब पहलुओं में यह पूर्ण थी। हरएक युवक इसके चङ्गुल में फँसा हुआ सोचता, वह उससे प्रेम करती है। अपनी मोहनी, अपनी हँसी में फाँसकर उनको अलग न किया। खूब धोका दिया। और.....।"

"समझ नहीं पाया, यह यहाँ पहुँची कैसे।" प्रोफेसर दङ्ग रहकर बोला।

"गौरी चाहती थी, वह दुनियादारी सीख ले। पुरुष उसके हाथों खिलौना बन सकते थे, लेकिन स्त्री.....! एक दिन गौरी ने कहीं सुना कि यह स्त्री वह सामर्थ्य रखती है। गौरी नारी ईर्षा में कमजोर है। आकर मुझसे बोली—मेरे साथ चलो। मैं तब जान लूँगी, वह किन तत्त्वों की बनी हुई है। वह बन्धन में क्यों नहीं आती। वह अभागिनी

मेरे नजदीक गौरी को देख, गौरी के असाधारण सौन्दर्य की स्पर्धा से मुझे अपनाने तुल, हमारे पास आयी। नारी स्पर्धा में मतलब भूल जाती है। वह मुझसे इकरार कराना चाहती थी कि मैं गौरी को छोड़ दूँ। तब वह ताजिन्दगी मेरा गुलाम होकर रहेगी।" कह कर सुबोध हँस पड़ा। खूब हँसा।

गौरी चुपचाप दरवाजे की आड़ में खड़ी थी। प्रोफेसर ने देख लिया था। सुबोध फिर कहने लगा, "गौरी ने अपनी हिंसा में उसे समा दिया। एक स्त्री दूसरे के प्रति यह भावना क्यों रखती है, जानते हो?"

प्रोफेसर ने बात पलटने को कहा, "यह जानकर क्या होगा।"

"जानकर!" सुबोध खिलखिलाया। "कई प्रेमी इस युवती के पास प्रेम की भीख माँगने पहुँचे थे। इसके प्रेमियों की बड़ी 'लिस्ट' थी। एक दिन समाज ने इसे जहाँ खड़ा किया, वहाँ अपने शरीर और सौन्दर्य पर इसे गुजर करनी थी। तब ही वह सब युवकों को मिटा लेने की फिक्र में पड़ गयी।"

सुबोध!" प्रोफेसर ने टोका।

लेकिन सुबोध कहता ही रहा, "वह कहती थी—मैं जानती हूँ कि प्रेम एक व्यर्थ का सवाल है। जब अपने से प्रेम न कर सकी, किसी और से एक दिन करूँगी, न जाना था। गौरी ने मेरे दिल की आग जगा दी। यह आग...। इसमें मैं राख बन जाती तब.....! नहीं, तुम मुझे उबार लो। मैं पालतू बिल्ली की तरह अपने प्रेमियों को फुसलाना जान गयी थी। मेरी बेबसी और लाचारी को पहचान लेनेवाला मुझे कोई नहीं मिला। नारी खुशामद की भूखी नहीं है। वह पुचकार और सहारा चाहती है।"

कहना बन्दकर सुबोध ने दीवाल से लगा बटन दबाने को था कि गौरी कमरे में आयी। तेज आँखों से सुबोध को घूरते बोली, "क्या कर रहे

हो यह। अपना वादा भूल गये। एक दिन तुमने कहा था कि उसे कभी नहीं देखूँगा।" इतना कहकर चुपचाप खड़ी रह गयी।

सुबोध पीछे हटा। प्रोफेसर से कहा, "इस युवती के दिमाग पर पहले 'बुद्धिवाद' की पहुँच थी। गौरी ने अपने नारी तेज से भस्म कर दिया। उसे मेरे नजदीक बहका खुद मुझे पकड़े रही। तुमको आश्चर्य होगा कि उसके हरे कीटाणु ज्यादा ताकतवर होते गये। उसकी बुद्धि पैनी होने की वजह से वह खुद अपने को भूल गयी। कभी वह हँसती थी, तो फिर! लड़कियाँ उसकी मजाक उड़ाती थीं। एक दिन वह काफी सन्तुष्ट लगी। उस सुबह घंटों वह गौरी के चरणों में सिर रख कर माथा टेके रही। गौरी चुप थी। फिर मेरे पास आकर उसने वादा करवाया कि मैं हमेशा गौरी की हिफाजत करूँगा। दिन भर वह लड़कियों के साथ ताश खेलती रही। साँझ को उसने बाग के लाल-फूल तोड़कर सब लड़कियों को दिये। रात्रि को सोने से पहले वह मेरे और गौरी के पाँवों की धूल लेने आयी। गौरी की उँगली में नीलम की अँगूठी पहनायी। अगली सुबह हमने उसे मरा पाया। उसने दूसरी अँगूठी में भरा जहर खा लिया था।"

प्रोफेसर को फ्लास्कों का निरीक्षण कराते सुबोध ने कहा, "लगता है उसकी मौत में एक खुशी थी। न-जाने उसने अपनी वह ख्वाहिश कि वह कभी माँ बनेगी, कहाँ भुला दी। इस बात पर दिमाग की नसों ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। गौरी न चाहती थी कि मैं ज्यादा छानबीन करूँ।"

गौरी की ओर देख कर सुबोध बोला, "तू जा अब इतनी दिलचस्पी ठीक नहीं।"

तीसरे कमरे में जाकर कहना शुरू किया, "यह ठीक नहीं कि जीवन का तत्त्व दुःखाना ही हो। यह दृष्टिकोण मुझे ठीक नहीं जँचता है। यह सामने फोटोवाला एक बड़ी कम्पनी का मालिक था। यह हमेशा चापलूसों और खुशामदियों से घिरा रहा। उसको सही बात से मतलब न

था। गरीब होना, एक सामाजिक कुसूर है। उनके प्रति उदारता इसे न आती थी। जीवन की खरीदारी के लिए किसी बात की कमी इसने नहीं की। जिन्दा यह हमारे चंगुल में नहीं फँसा। इसे हमने मरवाया और गौरी इसकी लाश ले आयी।"

"यह गौरी क्या है।" प्रोफेसर तपाक से बोला।

"मेरे जीवन का सबसे बड़ा हथियार।" सुबोध का जवाब था।

"हथियार!" प्रोफेसर गुनगुनाया।

"यह बड़े दिमागवाला था। एक बड़े समाचार-पत्र का सञ्चालक। 'सेन्सेसन' और 'रोमान्स' की खबरें छापकर पैसा कमाना उसकी नीति थी। अर्द्ध-नग्न युवतियों के फोटो का प्रदर्शन कर, 'सेक्स' अपील की वजह से, हजारों कापियाँ अखबार की बिकती थीं। खुन की समाचार, बलात्कार के मुकदमे, डाके.....। आज की जनता की रुचि पकड़ने में वह सफल रहा।"

"इस इतनी बड़ी दुनिया को तुम क्यों समझ लेना चाहते हो सुबोध?"

"कुछ नहीं। मैं उन व्यक्तियों में था, जिनका सम्बन्ध दुनिया से नहीं है। जब वे मजबूरी से फँस जाते हैं, फिर अलग कैसे हों। मुझे दुनिया में समाज ने धोखा दिया। पैदायशी कलंक की वजह से मैं लावारिस हूँ। किसी ने मेरा साथ नहीं दिया। मैं भी जीवन से ऊब गया। आज तुम देखते ही हो, मेरे पास कुछ कमी नहीं।

थका सा प्रोफेसर अपने कमरे में गया। आज जो कुछ उसने देखा, वह भले ही अजीब हो, था सच। सोचा उसने, इस सुबोध को दुनिया का अविश्वास बटोर कर क्या पाना है। और सुबोध और इन विचित्र युवतियों के बीच उसे चलना है, विश्वास अपने पर न होता था।

जीवन में इतने प्रयोग कर, जब एक दिन सुबोध ने प्रोफेसर—अपने बचपन के दोस्त—को भी एक प्रयोग बनाने का निश्चय

किया, तब उसकी अन्तरात्मा में हल्ला नहीं हुआ। उसे बुलाने से पहले उसने गौरी की राय ले ली थी। गौरी जानती थी कि कुछ महीने बाद, प्रोफेसर की भी वही दशा होगी, जो इतने सारे व्यक्तियों की हुई। चित्र, मशालों से भरा शरीर, 'फ्लास्क' में सँवारे कीटाणु.....। आज तक जिस उत्साह से वह नये आदमी का चित्र बनाती थी, उसी तरह यह भी उसने शुरू किया। जितना हेलमेल जरूरी था, रखकर आप खुद अलग रही। बड़ी-बड़ी रात तक चित्र पर रङ्ग भरती, उन फैली जाल-वाली रेखाओं में अपने को डुबोये रहती। घर के रोज के व्यवहार में कहीं कोई फरक न पड़ा। सुबोध अपनी थ्योरी, दिमाग, हृदय की गति, मनुष्य और नारी का लगाव—न-जाने क्या-क्या बातें सुलझाता था। प्रोफेसर चाव से सुनता। अकसर गौरी भी अपना मत आगे रखती थी।

एक रात्रि को गौरी चित्र बनाने में लीन थी। प्रोफेसर का खाका पकड़ में आ गया था। कहीं कुछ कमी न थी। चित्र में रङ्ग भर रही थी। रेखाओं के मोड़ से मनुष्य के स्थायी सम्बन्ध को वह साबित करना चाहती थी,

कि एकाएक प्रोफेसर कमरे में आया। गौरी की ओर देखकर बोला, "मेरी मौत का इन्तजाम कर रही हो गौरी।"

"मौत का ?" गौरी ने बात हँसी में टालते हुए कहा।

"मैं इतना अनजान और लापरवाह नहीं। तुम मेरी मौत में मदद दोगी, विश्वास नहीं था।"

"प्रोफेसर !" गौरी ने भरपूर प्रोफेसर को देखते कहा।

"तुमने गलत समझा गौरी। तुम्हारे पास कुछ नहीं है कि मुझे अपनी पकड़ में रख सको। जानती हो .....।"

"प्रोफेसर !" गौरी उलझन में बोली। आगे और क्या कहे, समझ नहीं पायी।

"जानती हो, मौत का डर मुझे नहीं। आज तक मौत से हमेशा लड़कर भी अपने को जिन्दा पाया।"

प्रोफेसर चुप हो रहा। गौरी के दिल में भावना उदित हुई, प्रोफेसर की बात ठीक भी हो सकती है। किन्तु.....।

"मौत!" प्रोफेसर ने हँसते हुए कहा, "वह मैं जरूरत पर पा जाऊँगा। तुम और सुबोध के बीच मर जाऊँ, फिर भी अफसास नहीं। पहचानी मौत का डर ही क्या है। लेकिन, तब भी तो तुम्हारी तृष्णा नहीं मिटेगी।"

"तृष्णा.....।" गौरी अवाक् रह गई।

"गौरी, क्या कभी तुम्हारे दिल में यह बात नहीं उठती कि तुम एक गृहस्थ में होती।" कहकर प्रोफेसर कुछ सुने बिना ही चला गया।

अगली सुबह प्रोफेसर देर से उठा। उठकर सुबोध के कमरे में गया। सुबोध चुपचाप सिगार पीता हुआ, नये 'फ्लास्क' में खेलते हुए कीटाणुओं को 'माइक्रासकोप' से देख रहा था। प्रोफेसर समझ गया कि वह सब उसी से सम्बन्धित है। कहा नहीं कुछ। सुबोध प्रोफेसर को देखकर हँस पड़ा, कहा, "अजीब दुनिया है यह। कल की चाहना आज के हिसाब में नहीं। आत्मा की बड़ी भूख एक दिन जब हमारे शरीर को खा जावेगी, क्या होगा फिर, जानते हो.....।"

प्रोफेसर प्रभावशाली आँखों की तेजी में सिहर उठा।

"नहीं जानते हो। वह मौत नहीं। तब हम दार्शनिक हो जावेंगे। तब हम ठीक लगेंगे। और जीवन में कोई लालसा बाकी नहीं रह जावेगी। जाने दो इन बातों को। यहाँ ऊब तो नहीं गये।"

"ऊब!" प्रोफेसर अटक पड़ा, बोला, "गौरी और तुम्हारे खेल के बीच भला कोई ऊबा।"

"खेल के बीच।" सुबोध की आँखें खिल उठीं।

जाने दो उस बात को। मेरे दिल की एक बड़ी ख्वाहिश है कि उस युवती का सौन्दर्य देख लूँ, जो अपने में हजारों को रख लेती थी। एक दोस्त की खातिर तुम यह मंजूर करोगे, मुझे विश्वास है।"

सुबोध ने आनाकानी नहीं की। दोनों उस कमरे में पहुँचे। सुबोध ने बटन दबाया। उस युवती का शरीर बाहर आया। मौत के बाद उस निखरे सौन्दर्य को देखकर, सुबोध दङ्ग रह गया। कई मिनट तक उसके आगे खड़ा-का-खड़ा रहा। प्रोफेसर चुपचाप बाहर आया। आकर गौरी से बोला, "तुमको अपने सौन्दर्य का घमंड था न। वह एक स्वप्न अब है। सुबोध अब तुम्हारा नहीं, उस मरी युवती का ।"

गौरी सन्न रह गयी। भागी भागी कमरे में पहुँची, देखा कि सुबोध उस युवती के आगे बुत-सा खड़ा था।

"सुबोध बाबू।" वह बोली।

सुबोध ने गौरी को देखकर भी कुछ नहीं कहा। जैसे कि इस सभ्यता, समाज, विज्ञान और खुद अपने प्रति उठती घृणा का विद्रोह वह पा गया हो। बोला, "जाओ तुम गौरी। क्या देख रही हो यह।"

गौरी आज्ञा की अवहेलना न कर सकी। चुपचाप चली गयी।

बाहर आकर प्रोफेसर से बोली, "तुम जीत गये। जिस खेल को हम आज तक खेलते रहे, विश्वास न था कि कोई एक दिन हमसे खेलेगा। अपने प्रति असावधान रह, मौका पाकर यह तुमने ठीक नहीं किया।" कहकर चली गयी।

उसी रात्रि से गौरी ने प्रोफेसर के चित्र की जगह सुबोध का 'पेंटिङ्ग' शुरू कर दिया।

दूसरे दिन प्रोफेसर चला गया। गौरी की उलझन बढ़ती जा रही थी। जिस बात का उसे डर था, वही हुआ। उस मरी युवती के प्रति सुबोध की श्रद्धा उभर आयी थी!

जिन कीटाणुओं का प्रयोग सुबोध करता रहा, उनके बीच उसे 'खेल' गौरी पाती थी। सुबोध से जो, जितना उसने सीखा-जाना था, वहीं तक वह पहुँची।

प्रोफेसर की चिट्ठी तीसरे महीने मिली :

'गौरी

तुमने मुझसे प्रेम कर ही अपने सुबोध को खोया। तुम्हारे दिल पर मेरा अधिकार हो गया था। तुम में वह प्रभाव न था कि मुझे अपने में कर लेती। सुबोध का खेल मुझे पसन्द था। वह एक दिन 'खेल' बन गया वह भी ठीक था।

तुम भी.....

किन्तु,

उसी रात्रि गौरी ने सुबोध के शरीर को नये कमरे की आलमारी पर सँवार कर रखते हुए, 'फ्लास्क' में आखिरी कीटाणुओं का खेल देखा था।

कङ्कड़, चूना, ईंटें.....

"मनोरमा की बात सुनोगे।" रामू ने रेत में फावड़ा चलाते-चलाते कहा।

किशोर ने चुपके रामू की ओर देखा। कुछ भी उसकी समझ में बात नहीं आयी।

आधी रात, गङ्गा के किनारे का श्मशान; अभी-अभी सामने कुछ शृगाल, हू-हू-हू करते, इधर-उधर झाड़ियों के बीच छुप गये थे। गङ्गा के किनारे अजीब पक्षियों का एक दल छप-छप-छप करता हुआ पानी में बार-बार डुबकियाँ लगा रहा था। कुछ हटकर, आम के पेड़ों के एक गिरोह के नीचे घना अँधियारा था। बड़ी दूर दीखती घाटी, जहाँ पर करवट लेती-सी नदी मुड़ी थी, वहाँ मछुओं ने कुछ दिनों से अपना डेरा डाल लिया था। उनकी लालटेन की मन्दी-मन्दी रोशनी बीच-बीच में कभी-कभी चमक उठती थी। किशोर चुपचाप रेत हटाता जाता था और रामू फावड़ा चलाने में मशगूल था।

"तुम अफसोस कर सकते हो। इसी एक भारी चीज को पाकर आदमी कृतार्थ हो जाता है। अन्यथा जीवन को स्थायी किसने गिना है। मृत्यु के बाद ही तो जीवन का अस्तित्व पूर्ण हो जाता है, तब हम उसे तोल सकते हैं। स्थिर होकर बना एक ढाँचा, माप और परिणाम में खरा लगता है।"

"क्या तुम कहते हो रामू ? मैं तर्क कब कर रहा हूँ। विवेक साथ है, तब भी व्याख्या का भूखा नहीं। तुम क्या कहते थे मनोरमा के बारे में ?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं।" कहते-कहते, रामू जोर-जोर से जल्द-जल्दी फावड़ा चलाने लगा। कहीं भी थक कर सुस्ताने का मौका, जैसे कि

वह नहीं देना चाहता हो। अथवा वह उस ओर निपट लापरवाही ठाने हुए था।

"कुछ नहीं ! बात उठाकर इस तरह ढक लेना तो न्याय नहीं होगा। मैं इसे जीवन की तुम्हारी कथित फिलासफी की तरह मान्य भी नहीं गिनता हूँ, जैसे कि तुम अभी-अभी कुछ देर पहले सुना रहे थे।"

"क्या !" रामू ने फावड़ा वहीं रेत में गड़ा रहने दिया। हाथ अपना हटाया। उस फावड़े को बिना सहारे खड़े रहने देना ही जैसे कि उसकी इच्छा थी।

किशोर ने उस चुपचाप खड़े हुए रामू की ही कुछ देर पहले कही बात दुहरायी, "तुमने ही तो अभी-अभी श्यामू की चिट्ठी के टुकड़े-टुकड़े कर रेत में उसे मिलाते कहा था; यह चिट्ठी क्या, उस शरीर को भी एक दिन धूल में मिल जाना है। न वह जिन्दादिली साथ देगी, न वह सौन्दर्य ही। लाश को एक उपयोग मानकर गाड़ देना उचित नहीं लगता है। पशु-पक्षी तो उसे खूब खा सकते हैं—तेरी उन सब बातों को मैं कब समझ पाता हूँ रामू। हिश, यह क्या बात !"

'श्यामू की बात तू कहता है। श्यामू ने भला अपने पति के पास से, गृहस्थी के दायरे से, उस चिट्ठी को लिखने की अनधिकार चेष्टा क्यों की थी। अब उसे यह सब अधिकार नहीं था। इतने विस्तृत पत्र को लिख लेने की फुरसत पा लेना बेकार-सी बात लगती है। और क्यों वह लोगों में दावा करती फिरती है कि एक दिन मुझे भी गृहस्थ बनाकर छोड़ेगी।"

"रामू ठीक तो कहती है वह, सही बात।"

"कहती है। नहीं, मेरी इस गृहस्थी की बात को वह मन-बुझाव कर लेने का साधन बनाये है। विवाह के बाद उसे ज्ञान आया कि उसकी, वह शादी कर लेनी गलत बात थी। जरा-सी भावुकता की वजह से अब वह जिम्मेदारी के बीच फँस गयी है। अपना 'निज' आज उसका कुछ नहीं। पति के बाद वह है। और निश्चित केवल अपने

ज्ञान से ही चलने का कोई भी अधिकार आज उसे नहीं है। तभी तो वह मेरी इस स्वतन्त्रता का बाँध लेने का 'शब्जा' कभी-कभी अपने जीवन के बीहड़ रेगिस्तान में बनाया करती है।"

"क्या कहता है तू रामू!"

"उसकी शादी के बाद, जब एक दिन उसके घर के दरवाजे के पास से गुजर रहा था, तब वह चुपचाप दरवाजे की ओट में खड़ी होकर, चूड़ीवाली से, चूड़ियाँ ले रही थी। मुझे जल्दी भागते हुए देख उसने चूड़ीवाली से कहा कि वह मुझे पुकारकर बुलवा ले। अपने आप वह नाम पुकारने तक से असमर्थ थी।"

"असमर्थ!"

"नहीं, तो क्या वह खुद नहीं पुकार सकती थी। और चूड़ीवाली के पुकारने के बाद भी मैं बढ़ता ही चला गया। तभी अपनत्व को खोकर, वह भारी निराश हो गयी। अपने पर कोई वश नहीं रहा। हाथ में पहनने को भारी ख्वाहिश से खरीदी वे सारी चूड़ियाँ खन-खन, खन-खनकर वहीं सीढ़ियों में गिर पड़ी थीं। आगे जब मैं एक दूकान पर बैठा कचौड़ियाँ खा रहा था, चूड़ीवाली ने यह बात मुझे सुनायी थी। और मैंने खुद ही लौटते हुए देखा था कि कई-कई, उन रङ्गीन काँच की चूड़ियों के टुकड़े फैले थे और उनके बीच श्यामू का सारा विद्रोह निर्जीव दुबका सोया पड़ा हुआ था।"

'बेकार तुमने वह सारी आग सुलगायी।"

"मैंने, नहीं; श्यामू ने जिस गलत धारणा को लेकर विवाह किया था, मैं भले ही उससे सहमत न था, फिर भी इनकार करने का कोई भी अधिकार मैंने पेश नहीं किया। समाज को कुचल डालना ही चाहूँ, किन्तु वह विधि अपने से बाहर किसी और पर लागूं नहीं करना चाहता हूँ। बेकार क्यों एक भारी कुनबा लड़के-लड़कियों और बच्चों का सिर्फ अपना ही साबित करने को जुड़ाया जावे।"

"क्या?"

"अरे शादी करके नहीं, उससे अलग रहकर भी हो सकता है। समाज में कुछ लोगों को दोस्त बनाने का शौक है, उनके बीच चलना; कुछ युवतियाँ भी आज इतनी स्मर्थ हैं कि आगे बढ़कर आदमी से उनको कोई हिचकिचाहट नहीं है ! समाज और आदमी की ओर से वे उदासीन और लापरवाह रहती हैं।"

"और बच्चे !"

"ओह," कहता रामू ठहठहा मारकर हँस पड़ा। "अरे सुन, बच्चे अपने न सही, और-और लोगों के तो हैं ही। दूसरों के बच्चों को भी खूब प्यार किया जा सकता है। इसे अनधिकार तुम क्यों साबित कर देना चाहते हो। यह एक गलत ख्याल है कि बच्चे को चूमना, उसकी युवती माँ के ऊपर एक भारी भार लाद देना है। इन ढेर-से अपवादों की वजह ही से तो आज लड़की सतर्क होकर चलना सीख गयी है।

"क्या तुम कह रहे हो रामू।"

"सही-सी बात है। पीड़ा जब आदमी के दिल में उदित हो जाती है, सिर्फ भावुकता का आसरा लेकर ही वह नहीं चल सकता है। और न वह इतना बेवकूफ बाकी रह जाता है कि हर एक युवती, जो उसके पास आती है, उसे प्रेमिका घोषित कर सके।"

"प्रेमिका !"

"आज के युवक ने अपने को होशियार साबित कर लेने के लिए यार-दोस्तों के बीच क्या-क्या रंगीन बातें दुहराना नहीं सीखा है। कहीं किसी युवती को झरोखे से देख लिया, बस उसकी ख्याली तसवीर से बेकार उलझना ही उसने सीखा और जाना है। बेकार एक भारी वक्त इसी तरह गवाँ दिया करता है।"

"लेकिन रामू, यह इतना ज्ञान तुम कहाँ से पा गये।" कहकर किशोर ने फावड़ा उठा लिया और रेत खोदने लग गया।

रामू चुपचाप एक ओर खड़ा था। कुछ देर चुपचाप टकटकी लगाकर किशोर की ओर देखता रहा और फिर धुँधली चाँदनी में गङ्गा में

बहती किसी काली-काली चीज को देखता हठात् बोला, "वह देख किशोर।"

"क्या-क्या।" किशोर ने रामू की उँगली की सीध में देखा।

"बोल, क्या होगा?"

"क्या जाना जा सकता है। बरसाती नदी में पेड़, गाय, भैंस, सब बहकर आते हैं।"

"और आदमी का नाम लेते हिचकिचाहट क्यों मन में उठ रही है। यही बात है न कि आदमी की मौत सुन लेना या कह देना एक भारी नैतिक अपराध लगता है। अन्यथा वह भी कह लेते, आदमी डरता नहीं।"

"क्या!"

"यही न कि मौत के बाद जीवन शुरू होता है। याद है न वह दिन, जब बीरू भइया की लाश को फूँकने इसी श्मशाम पर लाये थे। कितनी घनी बरसात थी और उस बरसात में भी अपना एक भारी कर्तव्य हमने कर डाला था। तूने भी तो अपना बरसाती कोट ओढ़ लिया था।"

"जाने भी दे रामू उन बातों को। डर न जाने क्यों लग रहा है। फिर कभी इन ऐसी बातों पर दलील करना।"

और आज सुबह ही तूने नहीं देखी थी, वह किसी औरत की लाश।"

"दादा, मैं भौंचक्का रह गया था उसे देखकर। कहाँ से वह बहकर आ गयी थी। उसकी वह सुन्दर सिल्क की साड़ी, बढ़िया जम्पर और, और.....।"

"उम्र भी तो अठारह से ज्यादा नहीं लगती थी।"

"किन्तु रामू मैं उसे देख नहीं सका था। सुन्दर पीले चेहरे को ऊपर से पानी की सुफेद-सुफेद काई ने ढक लिया था। वह असह्य था। आखिर वह उतनी फूल क्यों गई थी।"

"थक गया है, अच्छा ला, मुझे दे फावड़ा।"

"नहीं-नहीं।" कहता हुआ किशोर फिर फावड़ा चलाने लगा।

धीरे-धीरे कुहरा फैलने लगा। हल्की-हल्की बूँदा-बाँदी भी शुरू हो गयी। किशोर फावड़ा चलाने में तन्मय था और डलिया भर-भरकर रामू रेत एक ओर फेंक रहा था। एकाएक नदी में एक भारी छपाका हुआ। दोनों चौंक उठे। रामू बोला, "कुछ नहीं, रेत का किनारा गिर पड़ा है। क्यों मनोरमा की बात कह रहा था मैं।" वह चुप हो गया।

रामू ने बात कहने से पहले कुछ मन में निर्णय किया। कुछ देर बाद कहने लगा, "मनोरमा को कब जानता था। न सोचा था कि उससे एक दिन मेरी पहचान होगी। लेकिन इस अनजान दुनिया में कब किससे वास्ता पड़ जाय, यह बात तो कोई नहीं जानता है। कई आश्चर्य हमारी इसी दुनिया में तो हैं। उन पर हम कब अधिक सोचते हैं। और ऐसी ही एक रात थी। इससे भी डरावनी और फीकी। खूब पानी बरस रहा था। निराश्रय इस शहर में आधी रात बीस मील चलकर आया था। बहुत थकावट लग गयी थी। भूख से प्राण निकलने को ही थे। मन को बुझाना साधारण बात है। दुनिया के प्रति उठती भावनाओं, आकांक्षाओं अथवा दिमागी एक भारी झगड़े को दार्शनिक बन, तर्क की कसौटी से भुलाया जा सकता है। किन्तु शारीरिक भूख से छुटकारा पाना आसान काम नहीं है। तब यदि अपना ही कोई अंग भूख मिटाने का साधन बन सके, तो आत्मा ना नहीं कर सकती है। अपने अङ्ग के प्रति उठता लोभ भी हटाया जा सकता है। वैसी ही भूख तो उस दिन मुझे लगी थी। तीन दिन से खाना नहीं खाया था। कई-कई मील पैदल मुझे चलना पड़ा था। सभ्य था, किसी से कुछ माँग कैसे सकता था। एक बार भिखारियों की तरह हाथ पसारने की कोशिश भी की तो हाथ खुद खिंच गया था।"

तभी किसी जानवर की आवाज कानों में पड़ी—गुर-गुर-गुर। और कोई अजीब चिड़िया, एक बड़ी दर्दनाक आवाज में बोल रही थी।

किशोर फावड़ा चलाता ही रहा। रामू ने पूछा, "डर लग रहा है क्या ?"

"श्यामा की चिट्ठी के ये टुकड़े रामू रेत में मिल-मिल गये हैं।"

"यों क्यों नहीं कहता है कि श्यामू की बात तू सुनेगा ! वही, जो जरा-सी एक बात से, अन्यमनस्क हो, अपनी सारी खरीदी चूड़ियों को टुकड़े-टुकड़े बना, दरवाजे के बाहर उनको छोड़ गई थी। जानता नहीं, वह कितना अनादर मेरा था। उसका उत्तरदायित्व मुझे डस गया। श्यामू क्यों उन रूढ़ियों से चलती भावनाओं पर फिर भी विश्वास करती है। मैंने एक दिन समझाया था कि अविश्वास में बड़ी सामर्थ्य हैं। कौन-कौन दुनिया में अपने नजदीक नहीं आते हैं और किसे-किसे हम भूल नहीं जाते हैं। कितनों को अपना सगा हमने पाया है ? बेकार सारा यह बखेड़ा ही तो है। अपनी परेशानियों के बाद ढेर-सी और लोगों को फिक्र बटोर लेने का वक्त मेरे पास नहीं है। आज जिससे पहचान है, कल उसी के पीठ पीछे हट जाने पर उसे अनजान मान लेता हूँ। मुँह के आगेवाली पहचान तो सिर्फ दुनिया के बीच चलने के लिए एक सहूलियत है। उसकी अवज्ञा करना तो मनुष्यता को कुचलना है और उसके प्रति उदासीन रहनेवाला कोई तकाजा भी मेरे साथ नहीं है।"

"श्यामू सब जानती थी।"

"क्या नहीं। जब मैं अपने चित्र बनाया करता था, वह बहुत छोटी-सी थी। सुना, कहीं से उसकी माँ मुझे उठा लायी थी। पिता मेरा कौन था और माँ, वह सब तो आज भी केवल एक भेद ही है। श्यामा की माँ ने सिर्फ इतना ही सुनाया था कि एक सुन्दर-सी गदेली में रुई की मुलायम तहों के बीच, उसने मुझे पाया था। साथ में अनजान किसी नारी के अक्षरों में लिखी एक चिट्ठी थी, जिसमें मेरी रक्षा की पुकार मनुष्य और देवता से की गयी थी। उस चिट्ठी के कई अक्षर मेरी दयालु माता के आँसुओं से मिट चुके थे।"

"बड़ा अकर्तव्य था वह।"

"नहीं शायद मेरी माँ ने सिर्फ 'सेण्टिमेण्ट' (भावना) में बहकर यह गलती की होगी। फिर अपने उस प्रेमी का 'तोहफा' नौ महीने हिफाजत से सँवारे रही। यह लोभ सही हो सकता है। लेकिन एक दिन असमर्थ अपने को उसने फिर पाया। यह भी एक बात हो सकती है कि पहले मेरी माँ ने मुझे मिटाने की कई कोशिशें की हों और फिर लाचार हो गयी हो। एक दिन चन्द मिनट में, मैंने यह सब बातें सोची थीं और फिर बिसार डाली थीं। बेकार अपनी उस माँ को भी दिल में जगह देना नहीं चाहता था। जानता है, श्यामू ने क्यों मेरी परवाह करने की सोची थी?"

"क्या कहा?" किशोर ने असमञ्जस में सवाल किया।

"शायद इसीलिए कि मैं जीवन में अस्तित्वहीन होकर पैदा हुआ था। मेरी उपेक्षा पर श्यामू की दया उभरी थी। लेकिन मैं तो वैसी दया का भूखा था नहीं। इसी लिए समझ के आते ही मैंने श्यामू और उनकी माँ का घर छोड़ दिया। दुनिया के बीच एक आवारा की हैसियत से प्रवेश किया। और इस शहर में आधी रात आकर जब खड़ा हुआ था, तो निपट अकेला था। शहर के सारे घर बन्द थे। मैं शहर की गलियों में चक्कर लगाने लगा। जब जाड़ा लगता, तो मैं दौड़ने लगता था। तभी मैंने देखा था कि एक दरवाजे से कोई आदमी चुपके नीचे उतरा है। मैं गली के एक ओर दुबक छुपकर खड़ा हो गया। वह आदमी एक बड़ा ऊनी गरम कोट ओढ़े था। अपना छाता खोलकर, 'टार्च' से रोशनी करता हुआ वह आगे बढ़ गया। मेरे दिल में आश्रय मिल जाने की उम्मीद हुई। मैं लथपथ भीगा भी, दबे पाँव चुपके ऊपर चढ़ गया। कहीं कोई रुकावट नहीं थी। टटोलते-टटोलते एक कमरे में जा पहुँचा। नीली बिजली की रोशनी हो रही थी। और मैंने देखा था; अर्द्ध नग्न एक युवती पलंग पर लेटी सोयी हुई थी। सारा शरीर करीब-करीब नग्न था। अजीब

एक छी-छी-छी मन में उठी। फिर भी एक बार उसे देखा ही। अपने को पकड़, धीरे-धीरे आगे बढ़कर, मैंने एक ओर पड़ी सुन्दर ऊनी चादर उढानी चाही थी कि उसने आँखें खोलीं। मैं भयभीत होकर जल्दी-जल्दी नीचे उतरा और इधर-उधर चक्कर काटता रहा कि सुबह हो आयी।"

रामू अब चुप हो गया। कुछ देर बाद पूछा, "कोई भरी हुई सिगरेट है। कुछ नशा-पानी तो चाहिए। भारी थकान लग गयी है।"

किशोर ने सिगरेट निकाल ली। उसकी कुछ तम्बाकू हथेली पर निकाला। उसमें एक छोटी-सी सुलफे की गोली रख दी। दिलासलाई बाल गोली को गरम किया और हथेली पर तम्बाकू को खूब मलता रहा। सिगरेट में उसे भरा और रामू को दे दिया।

रामू ने सिगरेट मुँह से लगा ली, सुलगाकर पीता रहा और पीने के कुछ देर बाद बोला, "कुछ भी हो, श्यामू के प्रति मुझे स्नेह है। उसे भुला नहीं सकता हूँ।"

"और उसी श्यामू की चिट्ठी का निरादर अभी कुछ देर पहले तुमने किया है।"

"वह उसी की भावुकता की वजह से। वह न जाने किस तत्त्व की बनी है कि अपने ऊपर मेरा मोह समेटे है। कभी-कभी उसकी बातें मैंने सोची हैं। फिर जिस तरह दुनिया में छूटी बातें भूल जाने को सोचता हूँ, उसकी बातों पर यह नियम लागू नहीं कर पाता हूँ। सुनो न, एक दिन की बात है। उसकी शादी से चार साल बाद की। मैं उसके घर गया था। खट-खट, खट-खट...सीढ़ियाँ चढ़कर मैं ऊपर पहुँचा और उसके कमरे में घुस गया। श्यामा आइने के आगे खड़ी कपड़े बदल रही थी। अपने शरीर, विचार, भावना सबमें अस्तव्यस्त कुछ गुनगुना रही थी। उच्छृङ्खलता का वह नजारा भूला नहीं जा सकता है। किन्तु श्यामू ने अपनी तेज घूरती आँखों से आइने में, मेरी आँखों को पकड़ ही लिया। साक्षात् बह न होना चाहती थी। अवाक्, लाचार

शर्मिन्दा होकर मैं नीचे गोल कमरे में आकर बैठ गया। बड़ी बेचैनी मन में थी। अपने इस कृत्य के लिए अपने को बहुत धिक्कारा। न-जाने आँखें मूँदे मैं क्या सोच रहा था कि पायजेबों की एक भीनी आवाज कमरे के भीतर आयी और कहीं पास आकर रुक गयी। जानकर भी कि वह है, मैं अनजान बना आँखें बन्द किये हुए था। सोचे था कि इम्तहान की एक भारी तह खोलकर श्यामू मुझे नीच घोषित करेगी

'रामू बाबू...।'

"मैंने आँखें खोल दी थीं। वह बचपन की गँवारू लड़की न-जाने कहाँ से अपने को सँवार लेने की अक्ल पा गयी है। श्यामू ने झुककर मेरे आगे माथा टेका और चरणों की धूल अपने माथे से लगा ली। मैं उसे रोक लेना चाहता था। बचपन में हमारा दोस्त का सम्बन्ध रहता था। हम एक-दूसरे को 'मित्र' ही कहा करते थे। एक का दूसरे के आगे झुकनेवाला कोई भी नाता हमने नहीं छाँटा था। कह फिर भी मैं कुछ नहीं सका था।

'आशीष भी नहीं दी।' श्यामू मुसकराते बोली थी।

"क्या ठीक, तुम्हारी उम्र बड़ी हो।" मैंने अचकचाहट में कहा।

'झूठ—! वही बचपन वाली आशीषें दो न। तू मर जावेगी। तुझे खड्डे में गाड़ आवेंगे।'

"मेरे पास इस सबका कोई भी जवाब नहीं था। तभी मैंने देखा नौकरानी प्रम्बुलेटर में एक बच्चे को लेकर आयी है। श्यामू ने बच्चा उठा लिया था। उसको उसने खूब-खूब चूमा। और मैंने भी जीवन की सारी चुकी सामर्थ्य को बटोर, बच्चे को श्यामू की गोदी से ले लिया था। वह खूब सुन्दर बच्चा था—बड़ा लुभावना, बहुत प्यारा! और मेरे पास न रहकर वह फिर श्यामू के अधिकार में जाने के लिए छटपटाने लग गया। श्यामू ने काफी मना बुझाकर उसे मेरे पास रहने को बाध्य किया। बच्चा बार-बार अपनी माँ की ओर देखता था और

तब कहीं एक बार जाकर मुझे। अपनी माँ और मेरा एक नया सम्बन्ध जैसे कि वह छाँट लेना चाहता था। तभी बच्चे ने एक बार माँ की ओर देखकर कहा—'छी ! छी...!!'

मैं कुछ भी बात समझ नहीं सका। श्यामू बोली—'उसे नीचे उतार दो।'

"मैं चुप ही रह गया था। क्यों बच्चे को नीचे उतारता। और बच्चे ने इतमीनान से अपनी 'सावधान' की छी-छी का पहला सबक पढ़ाकर, मेरे कुर्ते और धोती को तर कर दिया था। मैं शर्मिन्दा हो गया। श्यामू सिर्फ हँस दी, दौड़ी-दौड़ी एक तौलिया ले आयी और एक रङ्गीन साड़ी। बच्चे को लेकर नौकरानी बाहर चली गयी थी। श्यामू ने मुझे साड़ी सौंपकर कहा, 'बदल लो।'

"श्यामू धोती या साड़ी मुझे सौंप दे, यह सब...अधिकार कब उसे था। साड़ी लौटाते मैंने कहा—'यह मेरा भाग्य कहाँ ?'

"भारी एक चोट जैसे कि उसे मैंने पहुँचायी थी। वह तिलमिला उठी और तेज होकर बोली, 'तभी किसी गृहस्थी के घर में पैठ, इतनी स्वतन्त्रता से भीतर घुस जाना सीख गये हो।'

'उस भारी अपराध का तो कोई उपचार अब नहीं है। और माफी यदि माँग लूँ, तब भी उपयुक्त दण्ड वह नहीं होगा।'

'मुहल्लेवालों से रोज ही न सुनती हूँ—तुम्हारे सारे दास्ताने। आवारा और लोफरों के बीच चलते हो। गन्दी-गन्दी गलियों में खत काटते हो। कुछ भी तो.....।'

'सब बातें ठीक हैं। लेकिन तुम अपना इतना अधिकार मान क्यों चाहती हो कि मेरी बातों की हिफाजत करो। उचित तो उस सबको बिसार देना ही होगा। बेकार क्यों उन सारी बातों पर दलील कर मन में मैल जमा किया जाय। उसकी उपेक्षा तो सहनीय है।'

'और सुना था, एक दिन चौरस्ते की गली के बीच शराब पीकर तुम पड़े थे। तुम्हारे कुछ दोस्त तुमको उठाकर नहीं ले जाते.....'

'यही न खात्मा हो जाता। अभी कुछ ही दिनों की बात तो है कि हमारे एक दोस्त पीकर ऐसे गली में सोये कि शृगालों की एक टोली ने उनको.....'

'यही सब सोचना तो अब तुमको बाकी है। भली बातों का रास्ता तो.....'

'उस रास्ते से भला मैं कब चला। याद नहीं है वह रात, जब कि तुम्हारी माँ ने तुमसे कहा था—रामू अच्छा है बेटी। लेकिन जिसके माँ-बाप का पता नहीं, उस आवारे के साथ, तू इतनी घुल-मिलकर न रहा कर। तभी उस रात्रि को मैंने तुम्हारा वह घर छोड़ दिया था। आश्रयदाता का अपमान बनकर भला मैं कैसे रहता।'

'मुझसे पूछकर तुम गये थे, जो आज वह सब सुनाने आये हो।'

'तब क्या एक अस्तित्वहीन आवारे के साथ, जिसका दुनिया और समाज में कोई स्थान नहीं था, चलने में तुमको खुशी होती। क्यों बेकार परेशान हुआ करती हो। अवहेलना दुनिया का सबसे बड़ा अस्त्र है। वही मैंने सीखा है! तुमको भी आदत पड़ जावेगी।'

"श्यामा कुछ जवाब नहीं दे सकी थी। तभी मैं बोला था—जिस तरह अपने मन पर अविश्वास कर तुमने एक दिन सारी चूड़िवाँ बाहर सड़क पर दुनिया के लोगों के लिए कुचलने को छोड़ दी थीं, क्या वह तुम्हारा पति के प्रति एक गलत विद्रोह नहीं था?"

'वह न सुनाओ, यह कहो कि आज कल तुम क्या कर रहे हो।'

'क्या—? वही जो तुमने सुनाया है। बौद्धिक आवारा-गर्दी कहा जा सकता है।'

'चित्र बनाने.....।'

'छूट चुके। मैं दुनिया की मचलते रुचि का साथ देने में असमर्थ रहा हूँ।'

'फिर अब.....'

'काठिना मिल ही जाया करता है। इतने दिनों बाद आने के लिए

दुःख न मानना। क्यों बेकार दुःख मोल ले लिया जाय। पति है, बच्चा है, भाग्यवान् हर तरह से हो। इतना सब कुछ हर किसी को थोड़े ही मिलता है। कर्ता से लड़ने की ठानना बेकार बात है। यह काम पुरुष के लिए है।'

'यह सब कैसे सीख गये।'

'दुनिया ने सिखलाया।'

'अब आगे.....?'

'खुली वही सड़क है। वही चौरस्ता! रोक-टोक करनेवाला कोई भी नहीं है। फिर उचित रास्ता ढूँढ़ लेना भी मैं सीख गया हूँ।'

'लेकिन याद है एक बात।'

'कौन-सी।'

वह दिवाली के दिन.....।'

'न याद दिला श्यामू उसे। चित्र बनाकर तुझे दूँगा, एक खूब सुन्दर-सा। कब तक, कह नहीं सकता। दूँगा और जरूर ही दूँगा।'

'रामू?'

वह दिवाली की रात। अनजान थे तब। उतने खील बताशे लेकर लक्ष्मी-पूजन करने का दावा हमने किया था। उस नासमझी में एक मस्ती थी।'

'रामू! रामू!! न सुना वह सब। नहीं-नहीं!'

'उस नादानी में उस रात जीवन का एक भारी जुआ खेलकर एक चुम्बन.....।'

'ओ, रामू-रामू.....।'

'ठीक, असभ्य हूँ आज। एक आवारा। अन्यथा वह घटना क्यों याद दिलाता। अच्छा श्यामू.....।'

'जा रहे हो?'

'हाँ-हाँ।'

'कहाँ?'

'वहीं, गन्दी-गन्दी गलियों में। उन अपने लोफर दोस्तों के साथ। वहीं, जहाँ रहना सीख गया हूँ।'

'मत लाओ तुम, दुनिया में ! गृहस्थ !!'

'श्यामा !"

"श्यामा अपनी सारी सामर्थ्य के बाहर फूट-फूटकर रो रही थी। फर्श पर फैले उन आँसुओं के धब्बों को कुचलकर ही मैं चला आया था।"

किशोर ने फावड़ा ले लिया। बोला, "अब सावधान। इसके बाद !"

"पाँच साल पुरानी यह बात है। कौन जाने श्यामा जिन्दा है या मर गयी। मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं। इस बीच इतनी फुरसत भी तो नहीं मिली कि सुन्दर चित्र बनाकर भेज सकता।"

फिर पानी जोर से बरसने लगा। किशोर ने सावधान करते कहा, "ठहरना।"

"क्या है किशोर ?"

"बस ! बस !!'

"और किशोर, मनोरमा के उस नग्न शरीर की अक्सर मैंने श्यामा के उच्छृङ्खलता-पूर्ण बिखरे सौन्दर्य से तुलना की है।"

"तुलना !"

"हाँ, मनोरमा को उस रात्रि नग्न देखने के बाद, अगली सुबह मैं गङ्गा के पास एक ऊँचे पत्थर पर बैठा हुआ, गङ्गा में कंकड़ियाँ फेंक रहा था। बड़ी देर तक बैठा ही रहा। दुपहरिया हो आयी थी। तभी मैंने देखा कि एक युवती आकर मेरे पास खड़ी हो गयी। मैं उसे देख-कर चौंक उठा। वह सावधानी से मुझे खूब पहचानकर बोली थी, 'कल रात आप मेरे कमरे में आये थे।"

'मैं.. !'

'ऐसा अन्दाज लगा पाती हूँ। वैसे भूल हो सकती है।'

"अपनी गलती समझ मैंने माफी माँग ली थी। मैंने उसे खूब

पहचान लेना चाहा था। अब तो गुड़िया-सी सजी और खिली थी। कितना भारी अन्तर था उन दो रूपों में। तब से ही मनोरमा का घर मेरी एक छोटी सराय बन गया।"

"सराय ?" किशोर ने बात को बनाकर पूछा।

"और मनोरमा से वास्ता मुझे क्या था। वह अपनी रूप की दूकान सँवारती, चलती थी। कभी-कभी दुनिया से बहुत थककर मैं भी वहाँ विश्राम ले लिया करता था।"

"रामू दादा !"

"क्या है किशोर।"

"सावधानी से ! सावधानी से !!"

देखते-ही-देखते, उन दोनों ने एक रमणी की नग्न लाश ऊपर निकाल ली थी।

उस लाश को रामू ने खूब देखा, बोला, "लगता है कि यह मनोरमा गहरी नींद में सोयी है। अकसर मैंने इसे इसी तरह सोने से कई बार जगाया था। इस शरीर को आखिर यों ही ठुकरा दिया जाता है।"

"कल साँझ तक तो रामू यह अच्छी थी। आधी रात तक गाना गाती रही। फिर एकाएक सुबह कालरा हुआ और अन्त में यहाँ गाड़ दी गयी।

"देख लिया इसे अब किशोर। दिलासलाई तो बाल।" कुछ देर खूब देखकर, "कहीं कुछ भी अन्तर नहीं। वैसा ही रूप है। अच्छा, अब इसे यों ही सोयी रहने दो। मुझमें भी उसको नींद से जगा लेने की सामर्थ्य नहीं है। एक और सिगरेट बनाना। कँपकँपी लगने लगी है।"

किशोर ने सिगरेट बना ली। रामू ने खूब दम लगाया। फिर दोनों ने उस लाश को वहीं रेत में दबाया। रामू बोला, "दूसरा आश्रय अब ढूंढ़ना पड़ेगा।"

किशोर ने रामू की ओर देखा। कुछ समझ में बात नहीं आयी।

दस साल बाद रामू ने श्यामू के पते पर एक चित्र भेजा था :

एक युवती रेत पर लेटी हुई थी, ऊपर उसे कुचलती, गोद में बच्चा लिये, सरपट दूसरी युवती आगे एक युवक के पास बढ़ रही थी। कुछ दूरी पर इमारत उजड़ रही थी। कंकड़, चूना, ईंटें फैली-फैली थीं.....।

———

रुक्मणी के घर

उस साल, अपने जीवन के दुःख और निराशा से उकताकर, घर छोड़ अपने-परायों से दूर रहने की ठान ली थी। दूर, एकान्त में अपने-से-अपने तक सीमित भर मैं रहना चाहता था। पहाड़ों के गाँव-गाँव जाकर वहीं के लोगों में घुल-मिल भूल की एक गिनी गिनती में अपने को लाने की धुन में था। मेरे साथ एक नौकर था। उसके पास मेरा 'हाँलडाल' और छोटा सूटकेश रहता। जिस किसी भी गाँव में मैं जाता, वहाँ के मुखिया के घर डेरा डाल देता। पहाड़ों के लोग स्वभावतः ही भोले होते हैं। प्रकृति उन लोगों के जीवन को सहानुभूति, शिष्टाचार और सभ्यता से स्वतः पूरित कर देती है। प्रत्येक गाँव में दो-चार दिन रहकर मैं अपना जी स्थिर कर लेना चाहता; पर जो अशान्ति मेरे जीवन से खेल रही थी, वह हटती न थी। इतना ही नहीं, मैं तो यह भी पूर्ण अनुभव कर रहा था कि वह भार आये दिन असह्य होता जा रहा है। चिन्ता से उद्विग्न अनासक्त मन कहीं भी टिका नहीं। हृदय की आन्तरिक पीड़ा को बाह्य शान्ति कहाँ छू पाती थी? इसी प्रकार ऊब-ऊब, न जाने कितने गाँवों में बसेरा कर, उनको छोड़ा होगा। मैं इधर से उधर ही भटकता रहा।

पहाड़ी गाँवों का जीवन एक अपनी ही संस्कृति है। वहाँ के वातावरण की भावमय सजीवता, वहाँ के लोगों का सीधापन, वहाँ की रमणियों का एक भोला व्यापक सौन्दर्य, वहाँ के बच्चों का हठ; एक निराली वास्तविकता की पूर्ण निधि है। कितना सात्विक पवित्र और पूर्ण। वहाँ के छोटे-छोटे मकानों के गिरोह होते हैं। कहीं तो पहाड़ों की चोटी पर, कहीं पानी के गधेरों [1] के किनारे कहीं नीचे पहाड़ों की तरेटी में

[1] पहाड़ी कुदरती नाला

दूर से झुरमुटों के बीच छुपे वे गाँव खिलौने से लगते थे। उनकी छतें पत्थर से छायी और दीवारें सुफेद पहाड़ी मिट्टी से पुती रहतीं। सजावट के तौर पर दीवारें नीचे एक गज लाल मिट्टी से पुती रहती थीं। कभी-कभी गाँव के झरनों के पास मैं पाता वहाँ की रमणियों की आहट। कैसी स्वच्छन्दता से वे प्रश्नों का उत्तर देती थीं—बनावटी लज्जा से मुक्त सी। कितनी स्वतन्त्रता से वे मुस्कराती थीं, बोलती थीं, आपस में ठठोली करती थीं। कभी-कभी मैं देखता, पहाड़ी की दुरूह बटिया मारकर, ऊँचे दुर्गम स्थानों से उनका घास काटना। कभी-कभी वे घास के गट्ठों को सिर पर धरे हुए गाँव की ओर मधुर गीत गाती बढ़ती थीं। कितनी मादकता थी उन गीतों में? वहाँ के जीवन में जी ठहरने को करता था; पर मन में जो उलझन थी, वह घनी व्यथा बनी टिकने कहाँ देती थी? दुःख और वेदना के संघर्ष में डूबा, मैं इतना थक गया था कि ठगा-सा चला जाता था।

एक लम्बी मंजिल पारकर भटकता-भटकता एक दिन मैं एक गाँव में पहुँचा। ऊँची पहाड़ी पर वह गाँव बसा हुआ था। गाँव के सबसे ऊपर वाले मकान से ही नीचे तक के सब मकान गिने जा सकते थे। गाँव के दाँयें-बायें पानी के झरने थे। गाँव के झरने के पास पहुँचकर मैंने देखा, रमणियाँ पानी की गगरियाँ भर रही थीं। सन्ध्या होने को थी। मैंने एक युवती के प्रधान के घर का पता पूछा। वह मेरा दूर का रिश्तेदार था। उस युवती ने सुनाया कि प्रधान घर ही पर है। वह युवती पन्द्रह-सोलह साल की होगी। काली-काली मोटी धोती, मारकीन का रंगीन कुरता और ऊपर से मखमल की साधारण वास्कट पहने थी। कानों में चाँदी की बड़ी-बड़ी मुरकियाँ और गले में मोटी चाँदी की हँसुली थी। आगे कि मैं कुछ और पूछूँ, वह अपनी गगरी उठाकर चली गयी। उस युवती ने मुझपर एक प्रभाव डाला।

और फिर मैं प्रधान के घर पहुँचा। मुझे आया देखकर वे प्रसन्नता से फूल उठे। सन्ध्या से रात्रि हो गयी थी। मेरा नौकर खाना लाया। मैं

थका-माँदा था ही, फिर नींद से जरा झगड़ कर सो गया।

प्रातःकाल हुआ। गाँव दैनिक चर्या में रमा। रमणियाँ, नहा-धो, कलेवा कर, घास-लकड़ी लाने जंगल चली गयीं। लोग खेतों की देख-भाल में जुट गये। मैं उठा, लोटा, तौलिया, धोती, बनियान, सोप-केस निकाल, 'टूथ-ब्रुश' से दाँत साफ करता-करता झरने की ओर बढ़ा। राह में मैं देख रहा था, खेतों में सुफेद-सुफेद गेहूँ की डण्ठलें सूखी खड़ी थीं। गेहूँ कट गये थे। झरने की ओर बढ़ ही रहा था कि देखा—आगे दो युवतियाँ जा रही हैं। एक वही थी, कलवाली युवती। कुतूहल दबा, चुपचाप उनके पीछे-पीछे चल रहा था। वे आपस में बातें कर रही थीं। पहली ने पूछा, "रुक्मणी, कल तुम्हारे यहाँ कौन आया है?"

"मुझे मालूम नहीं बाबा कहते हैं, दूर के रिश्तेदार हैं। बड़े आदमी हैं। बाबा इनके घर अक्सर जाया करते थे। सुना, कालेज में पढ़ते थे। इधर झक सवार हुई, गाँव गाँव घूम रहे हैं।"

"तू क्या बोलेगी?"

"अभी रिश्ता नहीं छँटा।" रुक्मणी जरा मुस्कराती बोली।

तो रुक्मणी उस युवती का नाम था। बातें चल ही रही थीं: "कब तक रहेंगे?"

"क्या मालूम। अभी-अभी चाय बनाकर दे आई हूँ। अब खाना बनाना है, इसीलिए घास को न जा सकी।"

पानी के झरने के पास पहुँच गये थे। मैंने कपड़े एक ओर रख दिये। अब रुक्मणी से आँखें चार हुईं। वह जरा सकुचायी। मैं चुपचाप ब्रुश से दाँत साफ कर रहा था।

एकाएक रुक्मणी पास आई। बोली, "आप नहावें।"

मैंने कहा, "नहीं, आप पहले पानी भर लें। मेरा क्या? नहाना, खाना और सोना—दिन भर में तीन ही तो गिनती के काम हैं।"

वह चुपचाप पानी भर कर अन्य रमणियों के साथ, मन्थर गति से गाँव की ओर चली गयी।

नहा-धोकर मैं घर पहुँचा तो रुक्मणी आयी और एक तश्तरी पर नाश्ता और पानी रख गयी। मेरे कितने ही ना-ना करने पर भी वह मानी कहाँ ? प्रधान खेत की देख-भाल करने चला गया था और रुक्मणी पर ही अतिथि का सारा भार सौंप गया। मैं चुपचाप खाने लगा। रुक्मणी उलाहना-सा देने पर तुली, "रास्ते में आपने हमारी सारी बातें चोरी से सुन लीं। यह अच्छी बात थोड़े ही थी।"

गायें खुल गयी थीं। रुक्मणी गायें खोलने चली गयी। फिर लौटकर आ कहने लगी, "यहाँ पाँती से गायें खुलती हैं। आज हमारी बारी थी लेकिन मैं न जा सकी।" कहकर गिलास-रिकाबी उठा बाहर चली गयी।

मैं सोचने लगा—यह रुक्मणी क्या है ? जीवन के चौदह-पन्द्रह साल काटकर भी अभी बालिका ही है—सादगी से भरी, संसार से अनभिज्ञ, अबोधता से खेलती। उससे मुझे ज्ञात श्रद्धा हो रही थी, जो अज्ञेय न थी। पिता के समीप रहकर ही वह उसका सारा स्नेह अपने में बटोरे है। उसके यही बेटी है, यही बेटा है। माँ उसकी नहीं।

खाना खाकर दिन में गाँववालों के साथ 'डिट्टो' खेल रहा था। सामने तिबारी में अपनी कुछ सङ्गिनियों के साथ रुक्मणी बट्टियाँ खेल रही थी। आखिर पार्टी उठी। मैं चुपचाप आराम करने लगा। अचानक एक आहट हुई। कोई कमरे में आया। फिर आवाज आयी, "सो गये ?"

मैं कहाँ सोया था। रुक्मणी आयी थी। मैंने मुँह पर से चादर हटा एक ओर रख दी। वह एक दोने में कुछ पहाड़ी फल लायी थी। पास रखकर बोली, "तुम्हारे यहाँ तो कम मिलते होंगे।"

मैंने कहा—बाजार में बिकने कभी-कभी आ ही जाते हैं।

मैं चुपचाप खाने लगा। वह बोली, "एक जोड़ा ताश हमको दे दो; हम भी खेलेंगे।"

मैंने चुपचाप सूटकेस खोला और [illegible] ताश लेकर खुशी-खुशी चली गई।

एक दिन सन्ध्या को मैं घूमने निकला। ऊँची पहाड़ी पर चढ़ा आस-पास के गाँवों की ओर देख रहा था। अपने गाँव की ओर देखा, ग्रामीण रमणियों की एक कतार गाँव की ओर बढ़ती दीख पड़ी। उनमें पाँचवें नम्बर पर मैं रुक्मणी को पहचान गया।

उस रात्रि को मैं खा-पीकर सोने की फिक्र में था। चुपचाप किताब एक ओर रख, लालटेन मन्दी कर रहा था कि रुक्मणी दूध का गिलास लिये लायी। बोली, "आप कैसे हैं, दूध नहीं पीते? लो पी लो।" फिर उसने धोती की बँधी गाँठ खोली। उसमें से कागज का पुड़ा निकाला और देते हुए बोली, "कल ज्ञानू की बहू आयी थी। आज यह बँटा है। दिन को देना ही भूल गयी।"

मैंने कहा, "मेरा जी कुछ खाने-पीने को नहीं कर रहा है।"

पर वह तो अनुसुना कर बाहर चली गयी।

कुछ दिन और तो कटे। उस गाँव में रुक्मणी में मैंने वह तत्त्व पाया जो मेरे मन को जरा स्थिर कर लेने को तुला था। रुक्मणी की एक बात, एक ही हठ, एक ही प्रश्न से मैं अपने जीवन की पूर्णता पा जाता। वह मुझे कितने प्रेम और श्रद्धा से खिलाती थी। एक दिन गायें चरा, लौटकर आयी तो बोली, 'देखो जी, कितनी भीग गयी हूँ और पाँव भी दुख रहा है। लो तो, मेरे पाँव का काँटा निकाल दो।"

पानी से पाँव का तला धो, सेफ़्टीपिन बास्कट से निकाल कर मेरे हाथ पर रख दी। मैं क्या कहता। एक अज्ञात प्रेरणा सुझा रही थी कि यह लड़की कब समझेगी कि दुनिया की व्यावहारिकता क्या है? फिर चुपचाप काँटा ढूँढ़ने लगा, लेकिन मिला नहीं। वह मुसकरा, पाँव छुड़ा, बोली, "देखो यह है न. नीली-नीली झाईं। यहीं तो है झड़बेरी का काँटा।" और चुपचाप निकालने लगी।

मैंने कहा, "मैं निकाल दूँगा।" और चुपचाप पिन से काँटा

हिलाया कि वह पाँव हटा बोली, "आह, खूब निकालोगे। इस तरह भी कहीं निकाला जाता है। बड़ी पीड़ा होती है।" और फिर अपने-आप निकाल डाला।

उसी सन्ध्या को आसमान जरा साफ हो आया था। पहाड़ों में मायें बरसात और गरमी में खेतों पर बाँधी जाती हैं, ताकि गोबर इधर-उधर ले जाने की दिक्कत न रहे। अलग-अलग खेतों में बारी-बारी से बाँधी जाती हैं। हर एक किसान अपने खेतों में पशुओं के साथ दोनों ओर पत्तों की बनी दीवारें अटका, तम्बू-सा बना सोया करता है। संध्या को एक खेत में खूटे गाड़े जाते हैं, और सुबह को उखाड़ लिये जाते हैं।

मैं घूमने जा रहा था। चुपचाप कुछ सोचता-सा कि किसी ने पुकारा। रुक्मणी का स्वर था। देखा, नीचे एक खेत से रुक्मणी बुला रही है। कमर में धोती का फेटा बाँधे, नङ्गे सिर खूँटे गाड़ रही थी। खेतों को फाँदता-फाँदता मैं उसके पास पहुँचा। वह खूँटा गाड़ती, मेरे पहुँचते ही मुझसे बोली, "लो, तुम भी गाड़ो; फिर गायें बाँधेंगे।"

और मैं चुपचाप खूँटे गाड़ने लगा। गाड़ते-गाड़ते मेरे हाथों में छाले पड़ गये। मैं अपने हाथ देख रहा था। वह पास आयी। हाथ देखकर बोली, "ओफ छाले पड़ गये! मैं भी कैसी हूँ।" फिर हाथ पकड़ कर कहा, "माफी दे दो।"

मेरा हृदय कुछ कह देना चाहता था। फिर भी मैं चुप रहा। बड़ी देर तक अपने हृदय को नारी अनुभूति में डुबो मैं जरा सँभला।

उसी रात्रि को सो रहा था। किसी ने जगाया, "उठो? उठो!!"

वह रुक्मणी थी। रुक्मणी बोलने लगी, "अपनी वह बिजुली की बत्ती देना। पानी बरसने लगा है। गायें घर लानी हैं।"

कैसी है यह रुक्मणी, मैंने सोचा। टॉर्च सिरहाने से उठाया। टट्टा करने-सा उसके मुँह पर प्रकाश डाला। देखा—रुक्मणी! कितनी अस्त-व्यस्त थी वह। बाल बिखरे थे, सोने से जगी आँखें, और लगती

थी कितनी सुन्दर ! मैं चुप नहीं रह सका। आज तक की सारी सँवारी बात आगे आयी। बिलकुल आगे। एक व्यापक भाव में उसे दबाने का अधिकार खो बैठा। उसका हाथ पकड़ कुछ कहना चाहता था; पर नहीं कह सका। साहसकर जरा कहा, "तुम देवी हो। रुक्मणी, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ....."

यह क्या ? रुक्मणी चुप थी। चुप ही। रुक्मणी बिलकुल चुप थी। मैंने हल्के से रुक्मणी को वक्षस्थल से लगा, उसका माथा चूम लिया। वह कहाँ कह सकी कुछ। सारी नारी लज्जा में भीगी थी। कहा उसने, धीमे-धीमे स्वर में, "क्या कह रहे हो यह। अब मत कहना हाँ...!" फिर जरा देर चुप रही और बोली, "ओफ पानी बरस रहा है। मुझे जाना है।" कह छूट कर बाहर चली गयी।

"रुक्मणी ! रुक्मणी !! अकेले मत जाओ। मैं भी आ रहा हूँ।" मैं चिल्लाया।

"नहीं-नहीं, बाबा नाराज होंगे। तुम बीमार पड़ जाओगे।"

वह अन्धकार में खो गयी। मैं चुपचाप अन्दर चारपाई में कुछ सोचता हुआ लेट गया।

अगले दिन बड़ी सुबह मेरी नींद टूटी। नीचे के कमरे से दही मथने की आवाज साफ-साफ सुनाई दे रही थी। मैं नीचे उतरा। देखा, रुक्मणी मग्न, चुपचाप गुनगुनाती धीमे-धीमे स्वर में गाती हुई दही मथ रही थी। बड़ी देर मैं खड़ा-का-खड़ा ही उसे देखता रह गया। फिर कुछ सोच, चुपचाप उसके पीछे पहुँचकर आँख मूँद लीं। पहले तो वह चौंकी फिर जरा सँभलकर बोली, "श्यामा भाभी छोड़ दो।"

श्यामा उसकी अन्तरंग सहेली है। दोनों हमेशा साथ-साथ रहती, सोती और खाती-पीती हैं।

मैं चुप रहा।

अब उसने टटोला और जरा गुस्से में बोली, "छोड़ दो जी, जब देखो ठट्ठा...!"

मैं फिर भी आँखें मूँदे ही रहा। तो वह बोली, "मत छोड़ो।" फिर जरा ठहरकर, "कोई देख लेगा तो क्या कहेगा।"

मैंने उसे छोड़ दिया। वह दही मथती रही।

मैंने कहा, "रुक्मणी, अब मैं मथूँगा।" बस उसके हाथ से डोरी ले ली और चुपचाप मथ लेना चाहा। लेकिन कुछ भी तो न मथ पाया। वह हँसती हुई बोली, "तब तो जरूर मक्खन लगेगा।" और डोरी लेकर मथते-मथते कहा, "इस तरह मथा जाता है जी।" अपनी ही एक गति से मथती रहीं।

मैंने कुछ सोचकर कहा, "रुक्मणी, कल तो तूने दही खाने को नहीं दिया।"

"ठीक तो किया मैंने। ऐसा करने से दही नहीं जमता, इसीलिए तो—"

बहुत सोच-विचारकर मैं बोला, "रुक्मणी, कोई देख ही लेता तो क्या होता! सुनो, मैं जान रहा हूँ कि तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकता। तुम तो देर से मिलीं। पहले मिल जाती, तो इतना भटकना न पड़ता। जिन्दगी में एक बात जरूरी है—वह है प्रेम। तुम नहीं जानती। कल मेरे चले जाने पर क्या तुमको कुछ अधूरा नहीं लगेगा? क्या तुमको मेरी याद नहीं आवेगी? तुम मेरे नजदीक क्या नहीं रहना चाहती हो? क्या कल तुम मुझे भूल सकोगी? रुक्मणी बोलो! बोलो रुक्मणी!!"

रुक्मणी चुप सुन रही थी। चुप रही—चुप ही।

"रुक्मणी, तो मैंने झूठ समझा। मैं बड़ा अभागा हूँ...।"

रुक्मणी कहाँ मथ रही थी। स्थिर थे हाथ। वह खड़ी की खड़ी थी। अचल, ठगी, अपने में समायी, भूली ही, ठिठकी.....

"रुक्मणी!"

रुक्मणी बोले कैसे। क्या कहेगी वह? वह भूल में ही लीन थी।

"रुक्मणी!"

नहीं बोलेगी रुक्मणी। वह चुप, ठीक तो है।

"रुक्मणी ? रुक्मणी ??" मैं उद्विग्न हो बोला।

रुक्मणी ने अब एक बार पूरी खिली आँखों से मुझे देखा। उसकी पलकें भीगी थीं।

कुछ देर में रुक्मणी जरा सँभली। डरती, काँपती सी बोली, "तुम जाओ, जाओ। अब जाओ, बाबा जाग गये होंगे।"

मैं चुपचाप ऊपर आया। कितना खुश था। लगा कि एक नया जीवन पा गया हूँ।

फिर मैंने देखा, रुक्मणी पास नहीं आयी। आती कहाँ थी? डरती थी। मैंने उनका सारा अन्तर भाँप लिया। चाय वह नहीं लायी। उसका स्वर दूर से सुनकर एक गुदगुदी होती थी। खाना खाने में उसके पिता के साथ बैठा। वह वहाँ भी गम्भीर बनी सिर झुकाये थी। जरा कनखियों से देखती, चार आँखें होतीं और बस लाज से गड़ जाती।

उस दोपहर को एकान्त में मैंने रुक्मणी को आखिर पकड़ लिया। उसका पिता पास के एक गाँव चला गया था। मेरा नौकर भी सो रहा था। मैंने देखा, रुक्मणी ने गरम पानी से सिर धोया है और धूप में बाल सुखा रही थी। मैंने चुपके पीछे से जाकर उसके बालों का गुच्छा पकड़ लिया और उसे खींच कर कमरे में ले आया।

मैंने कमरे में अपना सूटकेस खोला! वह चुपचाप देख रही थी। मैंने कहा, "आज गरम कपड़े धूप में सुखाऊँगा, तू मेरी मदद करेगी न।"

उसने हाँ भरी।

मैं कपड़े देने लगा और वह बाहर डोरी पर उनको डालती रही। एकाएक उसके हाथ मेरे फोटो का 'अलबम' लग गया। वह उसे देखकर बोली, "एक हमको दे दो।"

"तुझे कौन अच्छा लगा।"

उसने मेरा एक 'वस्ट' पसन्द किया और ले लिया। आगे वह और

फोटो देखती रही। कुछ युवतियों के फोटो भी थे। एक निकाल वह पूछ बैठी, "यह कौन है ?"

मैंने कहा, "देख, यह '...' की लड़की है। मुझे फोटो दिखाने भेजा था। लेकिन मैंने ना कर दी।"

वह एकटक उसे देखकर बोली, "कितनी अच्छी है।"

मैंने दोनों को देखा। कितना अन्तर था। फोटोवाली युवती कितनी सजी थी। सौन्दर्य को पा लेने की चाहना में भरी, सुन्दर की परिभाषा में सिमटी, सकुचायी, खूब सुन्दर साड़ी पहिने थी। कानों का इयररिङ्ग, गले में सोने का लाकेट, हाथ की चूड़ियाँ और यह रुक्मणी ? मटमैले रंग की मोटी धोती पर काली-काली धारियों का मोटा कुरता पहने थी। हाथों में चाँदी के कड़े, गले में चाँदी की हसुली, कानों पर चाँदी की मुरकियाँ। सौन्दर्य में बनावट नहीं। प्रकृति से खेलती है, उसी में समायी और खोई रहती है। अपने को उसके बाहर नहीं पाती। दोनों नारियों को समझा—सत्य पाया रुक्मणी को। रुक्मणी अभी भी फोटो देख रही थी। आखिर पूछा, "तुमने शादी क्यों नहीं की फिर ?"

मैंने अनुभव किया कि रुक्मणी के बोलने में उपेक्षा की एक कीस है और स्पर्धा भी।

मैं इसका उत्तर नहीं दे सका।

उसी रात रुक्मणी ने आकर कहा, "हम तो कल गङ्गा नहाने जा रहे हैं, तुम भी चलोगे ?"

गङ्गा पास ही सात-आठ मील पर बहती थी। मैंने कहा, "पूछने पर इजाजत मिलेगी तो—"

रुक्मणी अपने पिता के पास गयी और पूछा। उसका पिता मेरे पास आकर बोला, "लौटते हुए बड़ी चढ़ाई पड़ती है। अब तो घोड़े का इन्तजाम भी नहीं हो सकता है।"

मैंने कहा, "जरा घूमने फिरने को जी कर रहा है।"

बस, दूसरे दिन झुटपुटे में ही रुक्मणी आयी। जगाती हुई बोली, "उठो जी, देर हो रही है।"

मैं आँखें मलता उठा। वह कह रही थी, "लाओ अपनी धोती, तौलिया, बनियान, साबुन का डिब्बा..."

मैंने कहा, "निकाल ले।" फिर कुछ सोच उठा। उसका हाथ पकड़कर बोला, "रुक्मणी, क्या हमारी जिन्दगी इसी तरह हमेशा साथ-साथ नहीं चल सकती है।"

रुक्मणी ने कुछ कहा नहीं। हाथ मुझे ही सौंपे रही। मानों कि सौगन्ध खाती सुझा रही हो—विश्वास रखना।

मैंने उस धुँधले अन्धकार में, रुक्मणी की ठोड़ी हिला पूछा, "रुक्मणी, क्या यही जीवन-भर निभेगा।"

रुक्मणी चुप थी। मूकता में कहती-सी लगती, मैं कहाँ झगड़ रही हूँ। सच तो है ही।

मैंने रुक्मणी को उस सुलझते अन्धकार में ही प्रभात वेला अपने वक्षस्थल से लगाकर कहा, "रुक्मणी, अब तू मेरी है।" उसका माथा चूम लिया।

फिर रुक्मणी चुपचाप बाहर चली गयी। नीचे दालान में उसकी और सङ्गिनियाँ आ गयी थीं।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की वह पहाड़ी सड़क नीचे की ओर नागिन-सी चलती लगी। सड़क पर चीड़ का पयाल बिछा था। कभी-कभी जरा हवा चलती, तो ऊँचे-ऊँचे चीड़ के पेड़ों की साँय-साँय कानों में पड़ती। सूर्य अभी दीख नहीं रहा था। फिर भी सामने उत्तर की ओर, दूर पहाड़ों की बर्फीली चोटियाँ लाल रङ्ग से रंगी थीं। हम लोग बातें करते-करते रास्ता चल रहे थे। रुक्मणी सबसे ठठोली करती जा रही थी। हँसती-बोलती कभी-कभी जरा मुझे भी आँखों से छू लेती थी। नीचे की ओर हम बढ़ रहे थे। चार मील पहुँचकर देखा कि दूर-सी नाले के रूप में, काले-काले क्षितिज से घिरी नीली-नीली

गङ्गा बह रही है। उसे देखकर डर लगता था। आखिर हम गङ्गा के किनारे पहुँचे। नाले में सीमित गङ्गा का पाट चौड़ा-सा आँखों को लगा। मैंने चुपचाप 'कैमरा' निकाला और कुछ फोटो ले लिये। आज न-जाने कहाँ से मुझमें एक नयी स्फूर्ति आ गयी थी। मैंने कपड़े उतारे और गङ्गा में कूदकर तैरने लगा। सब चुपचाप थे; पर रुक्मणी चिल्लायी।, "लौट जाओ, यह क्या कर रहे हो।"

मैंने उसे डराने को एक डुबकी लगायी। वह चीख उठी।

बहाव की ओर कुछ आगे और से जरा दूर में किनारे आया। रुक्मणी दौड़ी-दौड़ी आयी। आते ही बोली, "कैसे हो तुम ? यहाँ कौन तैरता है। पारसाल ही तो यहाँ दो आदमी डूबे हैं।"

मैंने मजाक करते कहा, "माना, डूब ही जाता तो क्या था ?"

"चुप रहो। पर्व के दिन ऐसा नहीं कहते।" रुक्मणी की भावुक आँखों की पलकें भीगकर टपक रही थीं।

"रुक्मणी ! रुक्मणी !!" मैं उलझन में-सा बोला।

रुक्मणी सिसकियाँ लेती-लेती आँसुओं में डूबी थी।

"रुक्मणी, अब ऐसा नहीं करूँगा।"

"अच्छा तो मेरी कसम खाओ।"

"सच कहता हूँ, ऐसा कभी नहीं करूँगा जिससे तेरा जी दुखे।"

"मुझे जाने दो; पर मैं यह नहीं देख सकती।"

वहीं चट्टी पर खाना खा कर हम रुक्मणी के गाँव की ओर लौटे। हम अपने साथियों से जरा पिछड़ गये थे। राह में रुक्मणी चुपके बोली, "हमारा भी फोटो खींचो।"

मैंने कहा, "तू जरा पीछे रह जाना, मैं खींच दूँगा।"

राह में बड़ी थकान लग रही थी। जो जहाँ पर थक जाता, वहीं बैठता। रुक्मणी मेरे कपड़ों की पोटली बनाये, सिर पर धरे, ऊपर एक लोटा गङ्गाजल से भरा टिकाये चल रही थी। हमारे कुछ साथी आगे बढ़ गये, कुछ जरा पीछे छूट गये। हम मोड़ के बीच अकेले रह गये थे

अब मैंने कहा, "रुक्मणी, मैं तेरा फोटो खींचूँगा; तू इस चट्टान पर बैठ जा।"

रुक्मणी बैठ गयी। मैंने तीन 'फिल्म' ले लिये और पास जाकर रुक्मणी को चूम लिया। रुक्मणी होश-हवास खोयी-सी चुप रही।

घर पहुँचे। रात्रि को थका मैं सोया था कि अचानक मेरी नींद टूटी। सिसकने की आवाज मैंने सुनी। चुपचाप बाहर निकला। चारों ओर घना अन्धकार था। बीच बीच में धीमी-धीमी सुबकियाँ ही मैं सुन पाता था।

अगले दिन यह रुक्मणी मुझसे दूर रही। मैंने उसे नहीं देखा। मेरा नौकर ही खाना और चाय मेरे कमरे में लाया। उसका पिता भी मैंने बदला पाया।

उसी सन्ध्या को सुना, रुक्मणी अपने मामा के घर दूसरे गाँव चली गयी। तीन महीने में लौटेगी।

अगले दिन गृह-स्वामी से मैंने कहा, मैं जाऊँगा। दिन भर गाँव के परिचित लोगों से बिदा लेता रहा। दो महीने पाँच दिन इस गाँव में काटे थे। फिर भी लगता था कि मानो कल ही आया हूँ।

दूसरे दिन मैंने नौकर के साथ वह गाँव छोड़ दिया। गाँव की हद छोड़ आगे बढ़ा था कि नौकर ने मुझे एक कागज का टुकड़ा दिया। उस पर टेढ़ी-मेढ़ी रुक्मणी की लिखावट मैंने पायी। टूटे-फूटे वाक्यों में लिखा था, "गङ्गा से लौटते राधा बुआ ने हमें देख लिया था। उसने बाबा से शिकायत कर दी। बाबा ने मुझे खूब मारा। मैंने कहा—बाबा, हम एक-दूसरे से प्रेम करते हैं।

बाबा ने कहा—यह झूठ है। वह बड़े घर का है। तेरी गलती है। उसकी शादी कहीं राजघराने में होगी...

और तुमने भी कभी इसकी पूरी बात बाबा से नहीं कही...

पत्र कुछ भी समझ में नहीं आया। अजीब-सा पत्र था। और मैंने गाँव छोड़ दिया था।

बात सोलह वर्ष पुरानी है ; पर लगती है आजकी-सी। इन सोलह सालों में क्या-क्या हुआ, सब मेरी डायरियों में लिखा है।

'डिस्ट्रिक्ट हॉस्पिटल' के एक कमरे में दो माह से निमोनिया से बीमार पड़ा हूँ। जीवन का मोह छूट रहा है। आज भी अपना मेरे पास कोई नहीं है। अपने पहाड़ी प्रदेश से दूर परायों के एक शहर में हूँ। जहाँ कथित सभ्यता है। आज इन सभ्य लोगों में कोई भी मेरे पास नहीं आता। हमारे कमरे में पाँच रोगी थे। एक-एककर वे चुक गये। चार रोगियों के जीवन से मेरी आँखें खेल चुकी हैं। सोचता हूँ गिनती का पाँचवाँ नम्बर ?

कल सुबह अस्पताल के भङ्गी का छोटा लड़का आया था। उसने मुझे एक पेन्सिल का टुकड़ा दिया। सोचा था कि कुछ लिखना ही भूल है। कल लोग पढ़कर कहते हैं क्या लिखा, पूरा दुःखान्त भी नहीं। फिर भी वह छोकरा मेरे कहने पर बादामी कागज के कुछ ताव भी ले ही आया।

एक बात भी भूलूँ क्यों ? अस्पताल के इस नीरस जीवन में कभी-कभी यह छोकरा जरा समीप आता है। इससे हँस-खेल भी लेता हूँ।

याद जितनी धुँधली है, बात उतनी ही निकट लगती है। कैसी विडम्बना है यह कि आज अपने अपने अस्तित्व को खोकर भी कागज-पेन्सिल के जुड़ जाने पर ही लिख रहा हूँ—रुक्मणी के घर।

तीखा व्यङ्ग

छोटी छोटी फूस की झोंपड़ियाँ हैं। एक में एक ग्वाला अपनी नयी दुलहिन के साथ रहता है। दूसरी में लकड़ियों का टाल है। वहाँ एक बुढ़िया बैठी लकड़ियाँ बेचा करती है। तीसरी में चमार रहता है। वह अधेड़ है और चुपचाप काम कर, जो कुछ भी कमाता है, उसे नशे-पानी में खर्च कर देता है। फिर कुछ झोंपड़ियों के ऊपर छप्पर नहीं हैं। और आखिरी जर्जर झोंपड़ी में रधिया अपने पति के साथ रहती है।

उन झोंपड़ियों की बस्ती की एक अजीब दुनिया है। ग्वाले के सामने वाले आँगन में एक नींबू का पेड़ है, उसीके पास कुछ खूँटे गड़े हैं, उनमें गायें बँधी रहती हैं। और एक अमरूद का पेड़ भी है, उसके नीचे बछियाँ खेलती रहती हैं। अक्सर ग्वालिन वहाँ अपनी काली चुनरी में बरतन माँजने भी बैठती है। कभी-कभी पति के बाहर चले जानेपर 'चाट' या 'नान खताई वाले' का खोंचा भी वहाँ लगा रहता है। वह जितनी ही साँवली है, उतनी ही पक्के रङ्ग की तरह चाट खाने में प्रवीण है।

टालवाली बुढ़िया के कुछ भी काम नहीं है। दिन-भर खाँव-खाँव लगाये रहती है या फिर गालियाँ देगी। उसका काम भगवान् और दुनिया को कोसने के अलावा कुछ नहीं है। उसका एकमात्र लड़का माता ने छीन लिया था। एक लड़की थी, वह भी हैजे में मर गयी। जमाई साथ में है; पर उसका काम जुआ खेलना, शराब पीना—आज इतनी ही वह अपनी दिनचर्या बनाये है। ग्वालिन झिड़कियाँ खाकर, अब उसने अश्लील मजाक करना या 'जानी जोबन पे मत इतराया करो' गाना फिलहाल छोड़ दिया।

चमार जीवन के प्रति उदासीन रहता है। सुबह उठकर कामपर

चला जावेगा, कहीं गली के नुक्कड़पर बैठकर वहीं वह चप्पलें, जूते सियेगा, सोल लगावेगा। वह कभी मुस्कराता नहीं है। उसका अपना जीवन अपने में ही सीमित है। अपनी गरीबी के कारण वह अभी अपने समाज के बीच तक गृहस्थ नहीं बन सका। इस आर्थिक दासता की वजह से वह अपने लोगों के बीच सिर नहीं उठा सकता है। पिछले साल जाड़ों में उसे एक उम्मेद का शब्जा दीख पड़ा था। उसके पास ही एक अमरूद बेचनेवाले की जवान छोकरी बैठा करती थी। उसने उसके जीवन में एक हरियाली फैला दी थी। उसे उसके प्रति सहानुभूति हो गई थी। किन्तु आकांक्षा का वह जाला एकाएक टूट गया। वह छोकरी अपने किसी यार के साथ भाग गयी। आज भी उसकी याद वह करता है। उसके आगे जब लोग उस लड़की के चरित्र की व्याख्या करते हैं, तो वह मन ही मन बहुत झुँझलाता है। वह नारी का मूल्य उसके शारीरिक आकर्षण और भूख-निवारण तक ही सीमित नहीं रखता। चरित्र की साधारण कमज़ोरियों से अलग, वह उसके दिल की सहानुभूति की कीमत पर विश्वास करता है। यदि वह लड़की लौट आवे, तो वह एक भरी-पूरी सहानुभूति के साथ उसे अपने साथ रख लेगा।

और वह रधिया ? उसका अस्तित्व उस समाज में भी नहीं है। उसका पति पहले एक खोंचे वाले के साथ नौकर रहा, फिर वह बेकार हो गया। कुछ दिन बाद उसे एक फेरीवाले बजाज के साथ कपड़े की गठरी सिर पर लादे-लादे मुहल्ले-मुहल्ले घूमना पड़ा। रोजाना दो-तीन आने से अधिक मजदूरी उसे कभी नहीं मिली। जब रधिया इस घर में आयी, तो चुप बैठी नहीं रही। उसने भी पति की सहायता शुरू कर दी। वह घास छीलने में प्रवीण थी। चुपचाप अपने काम से रोजाना दो-चार आने कमाकर ले आती थी। रधिया के जीवन की उमङ्गों में कभी वसन्त नहीं आया। वह मुर्झा गयी। कभी-कभी अनायास उसकी निगाह ग्वालिन पर पड़ती। उसका ऐश्वर्य, ईर्ष्या फैला देता। वह

गुण्डी-मुण्डी बनी जब रात को अपने पति के पास सोती, तो एक विद्रोह उठता। अगले दिन वह खूब मेहनत करती, किन्तु घास ढाई आने से अधिक न बिकती। वह मुरझाये मुँह घर लौट आती। इतना वह भली भाँति समझ चुकी थी कि यह तुलना वह व्यर्थ करती है। भाग्य और भगवान् ने उसे और उसके पति को यही जगह दुनिया में रहने को दी है। किसी खास उम्मेदपर उनको जीना नहीं है।

फिर भी रधिया की पैनी दृष्टि उस ग्वालिन की बातें भाँपा करती थी। वह देखती थी कि उनकी गृहस्थी में शिकवा—शिकायत चलती है। उनके जीवन में रङ्गीनी है। वहाँ कुतूहल भी है। अक्सर ग्वालिन अपने पति से लड़ पड़ती थी। उनका खूब झगड़ा होता था। वह आटा गूँधते-गूँधते धौंस के साथ चिल्ला-चिल्लाकर कहती थी—'वह नहीं गूँधेगी आटा। नहीं बनावेगी रोटी। नहीं खिलायेगी खाना। वह कुछ काम नहीं करेगी। तड़के अपने बाप के पास चली जावेगी। उसे कुछ नहीं चाहिए। उसे किसी बात की कमी नहीं है। वह इस घर में एक मिनट नहीं टिकेगी। वह जरूर-जरूर चली जावेगी। देखूँ, कौन उसे रोक सकता है। यह धमकी नहीं है.....।'

पति चुपचाप सारी बातें सुनता। रोटियाँ भी बनतीं। पति को खिलायी भी जातीं। फिर भी धमकी बात-बात पर दी जाती कि वह चली जावेगी। वे फिर चाहे कितनी ही खुशामदें करेंगे, वह लौटकर कदापि नहीं आवेगी। वह इस गृहस्थी से अब बाज आ गयी है। यहाँ उसका रहना नहीं हो सकता है। रधिया सब कुछ देखा-सुना करती। उसके दिल की भावुकता, भावना में तबदील हो जाती। उसकी उम्मेद और उत्साह एक बेकली में बदल जाता। वह अपने पति के साथ यह व्यवहार नहीं बरत सकती है। उन दोनों के बीच गृहस्थी में पति-पत्नी का कोरा रिश्ता है। दोनों दो समानान्तर रेखाओं की तरह जीवन में चल रहे हैं, जहाँ कि कोई भी मार्फत नहीं है। आर्थिक—दासता ने दोनों को निर्जीव बना दिया है। उनका आनेवाला दिन अँधियारा

भविष्य है। जहाँ क्या होगा, इस पर वे अधिक विचार नहीं करते। वह नामुमकिन लगता, जिस पर भरोसा नहीं किया जा सकता है।

किन्तु वह ग्वालिन अगली सुबह चुपचाप बछिया पकड़े खड़ी मिलती और उसका पति गाय दुहता रहता, जैसे कि उस युवती को वे सारी बातें, जीवन में नहीं टिकतीं। पति-पत्नी फिर स्वस्थ लगते। वह पति से बातें करती-करती बीच-बीच में टुक मुस्करा उठती। उस मुस्कान में मोह लेने की शक्ति होती और पिछली रात का झगड़ा कहीं भी बचा नहीं मिलता। उन दोनों के दिलों में वे जरा-जरा-सी बातें टिक नहीं सकती थीं। रधिया फिर अपने जीवन को उस गृहस्थी की कसौटी पर तोलती। वह भी पति से झगड़ती है। वह झगड़ा रोज नहीं होता। कभी महीनों में हो जाता है। जब होता है, तो महीनों तक चलता भी है। वह उन दिनों बहुत निराश रहती है। और वह सब क्यों होता है, इसका सबब भी वह जानती है। वह पैसों पर होता है। उस पैसे से उनकी गुजर नहीं होती। दोनों के मन में असन्तोष है। उस असन्तोष की जड़ पैसे का गलत बटवारा है। वह शौक नहीं कर सकती है, जब कि पति उसके पैसों पर भी अधिकार जमा लेता है। वह उस पर कभी-कभी तो बहुत ज्यादती करता है। वह आखिर कितना सहे। यह उसके प्रति अत्याचार लगता। वह अपने मन में इस बात की गाँठ बनाकर खरी-खोटी सुना देती है। पति भी झल्ला उठता था। दोनों एक-दूसरे को भली भाँति पहचानकर भी आपस में नहीं बोलते। उन दिनों रधिया अनमनी रहती। सब चुपचाप सह लेती। बात का तुफैल बनाना उसे जँचता नहीं था। कभी-कभी वह अपने पर झुँझलाती—फिर भी चुपचाप रहती थी। अपना काम मन लगाकर करती। फिर भी शहरू जीवन की व्यवस्था में मन मारकर कितना वह रहे। बात-बात में खर्चा। वह चन्द ताँबे के सिक्कों पर आखिर कैसे सारी गृहस्थी चलावे। वह उसके वश की बात नहीं। कितना मोटा-सोटा खावे-पहने; कुछ तो हद होती है।

इस पर भी पति धमकी देता कि वह यदि शादी न करता, तो

वह भी उस चमार की तरह रहता। आगे-पीछे किसी की फिक्र उसे नहीं होती। चैन से दिन कटते। जब कमाता तो खूब खर्च करता, पैसा न मिलने पर फाकेमस्ती में भी एक सुख ढूँढ़ लेता। आज तो वह बन्धन में है, कहीं जा नहीं सकता। उलटे सिर पर चार लोगों का कर्जा है। शहर में रोजगार मन्दा है, दूसरे शहरों का यही हाल थोड़े ही होगा। लेकिन वह मजबूर है, उसके हाथ में कुछ भी नहीं। इस शादी ने तो उसे हर तरह बरोबाद कर दिया है। रधिया सब सुनती है—सुनती है, जवाब नहीं देती। चाहे, कह दे कि वह भी अपना मूल्य जानती है। उसके नारीत्व की भी कीमत है, उसका सौन्दर्य आकर्षण की वस्तु है। और उस बुढ़िया का जँवाई रोज उसे लोभ देता है। उसे आश्वासन दिलाता है कि यदि वह अपने पति को छोड़कर उसके घर में बैठ जावे, तो न मेहनत-मजदूरी करनी पड़ेगी, न इतनी तकलीफें सहनी होंगी। लेकिन कृत्रिम बाहरी जीवन की टीमटाम उसे नापसन्द है। अपने पति पर उसका सारा मोह सीमित है। वह किसी भी तरह औरों के व्यवहार में पिघल नहीं सकती है। अपनी उदासीनता को सँवारने में, वह विपरीत नहीं चलेगी। वह पति को खूब प्यार करती है। उनके जीवन में कहीं कोई खास रुकावट नहीं है। वह दोनों ठीक-ठीक सब कुछ कर लेवेंगे।

इस तरह आदमियत साधारण दर्जे के लोगों के बीच भी चालू है। वहाँ भी सब सामाजिक बुराइयाँ हैं। वहाँ भी पैसा मनुष्य को ढक लेता है। वहाँ भी अवसर आदमी के आगे बार-बार खड़ा हो जाता है। दुनिया की प्रतिदिवस की चर्या में यह पैसा इन्सान को निम्नता की श्रेणी में भी ले आता है। कभी-कभी आदमी थककर ठहर जाता है—और वह पैसा जीवन-प्रतीक बना खड़ा-खड़ा मुस्कराता मिलेगा। यदि भाग्य और इन्सान के व्यक्तित्व का सवाल हल होते हुए देर नहीं लगेगी। इस जीर्ण समाज के घाव आदिकाल से दुखते चले आये हैं और आगे भी उसका उपकार आसान नहीं। आखिर किसने इन्सानों के बीच गहरी

गहरी खाइयाँ खोदकर, उनको आर्थिक—दासता स्वीकार करने को मजबूर किया है। इसी वजह जीवन में प्रतिदिवस कठोरता आ गयी है। और उस गलत निर्माण का सारा भार कुछ दरवाजेवालों को सौंप दिया गया है। यह सर्वदा श्राप-सा उन पर लागू रहता है।

वह रधिया दुनिया को आँखें फाड़-फाड़कर देखती है। देखती है उस ग्वालिन को। उस ग्वालिन का रोजाना जीवन उसके दिल में रोमांच की भावना भर देता है। वह उनका सुख-सपना देख, उस अपने अभागे भाग्य को कोसती भी है। किसी पिछले दिन बिसाती आया था। ग्वालिन ने सुन्दर-सुन्दर चीजें खरीदी थीं। तरह-तरह की चीजें थीं वे। उसने बाल बाँधने का नये डिजाइन का फुन्दा लिया था। अपनी चुनरी के लिए चकमक गोट लिया। रधिया मन मारकर सब कुछ देखती ही रह गयी। वह क्या करती, उसके पास पैसा नहीं था। दुनिया की सब खरीदारी पैसे पर चलती है। वह भी उस पैसे का पूरा-पूरा मूल्य जानती थी। वह पैसा न होना, उसे बहुत अखरता था। लेकिन उसे लाख की चूड़ियाँ पसन्द थीं। वह अपना शौक पूरा करना चाहती थी। वह मन में सोचने लगी कि उम्र में अभी वह उस अहीरिन से तीन-चार वर्ष छोटी है, फिर कड़ी मेहनत-मजदूरी करने से कई साल बड़ी लगती है। अभी तो उसकी उम्र शौक से खाने-पहनने की थी। फिर वह चुपचाप उठी और टालवाली बुढ़िया के जमाई के पास पहुँची। चार आना कर्जा निकाला। उसके अश्लील मजाक को सुन बिदकी नहीं, चुपचाप उसे पी गयी। आज वह भी 'वस्तुवादी' बन गयी थी। जरूरत के आगे झुक गयी। उसके हृदय में चोट लगी, पर वह तिलमिला नहीं सकी। उस चवन्नी की उसने चूड़ियाँ खरीदीं, पहनीं और उनको पहन कर उसे अपने जीवन में पहली बार खुशी हुई। अपने जीवन की उदासी में जैसे कि उन चूड़ियों की चमकाहट की रोशनी से वह कुछ ढूँढ़ रही थी। अपने जीवन में तैरते हुए उस मैल को, जो उसे दुःखी बना, पीड़ा पहुँचाता था; वह अलग हटा देने की फिक्र में थी। वह

अपने जीवन का रुख बदल देना चाहती थी। उसके मन में एक नयी उमङ्ग और उत्साह था, जिसे वह खुद न समझ सकी। एक अज्ञात थिरकन दिल में उदय होकर, उथल पुथल मचाने लगी। कभी-कभी अनायास वे चूड़ियाँ पैना डंक मारतीं, फिर भी वह अब सुलझ गयी। जीवन के प्रति उन्मुख न हो, पैसे का उपहास उड़ाना उसने स्वीकार कर लिया। फिर वह कुछ देर के बाद उन चूड़ियों को पहन खुश नहीं रह सकी। वह बुढ़िया का जमाई उस चवन्नी के बल पर अब उससे अश्लील मजाक कर सकता है। वह सुनने को तैयार जैसे कि हो गयी हो। आज तक वह उसकी ओर आँख उठा कर नहीं देखता था। अब वह छोकरा उसे तृष्णा की भूखी और खाली आँखों से ऐसे घूर रहा था कि जैसे रधिया ने अपने को स्वयं ही उसे सौंप दिया है। तो भी रधिया को सब मंजूर था। होनहार और उस भाग्य के साथ वह अधिक झगड़ना नहीं चाहती थी, जिस पर उसकी आर्थिक गरीबी निर्भर थी। न उसे भविष्य का कोई जाल बुनना पसन्द था।

उस सन्ध्या को रधिया अपनी झोंपड़ी में अनमनी-सी अकेली बैठी थी। न-जाने मन क्यों परेशान था। कुछ वह अपने में भी नहीं थी। अब वह अस्वस्थ लगी। वह न जाने क्यों फूट-फूटकर रोना चाहती थी। तभी उस सुनसान में उसने एक आहट सुनी। मुड़कर देखा, वही छोकरा खड़ा था। उसने एक पूड़ा निकाला और मिठाई आगे रख दी। रधिया असमञ्जस में पड़ी। वह चुपचाप बाहर खिसक गया था। रधिया के मन में कोई एक तीखी हँसी हँसा। उसमें कुटिलता भरी थी। रधिया अधिक देर तक असावधान नहीं रही। वह सब कुछ जानकर उठी, उसने वह मिठाई का पूड़ा उठाया, झोंपड़ी के पिछवाड़े पहुँची और वहाँ नाली में फेंक दिया। फिर भी मन की अकुलाहट नहीं हटी। एक छी-छी-छी सारे जीवन में फैल गई थी। वह खुद उपाय न निकाल सकी। रात भर उसे नींद नहीं आयी। अगले दिन उसे हल्का ज्वर हो आया। तीन-चार रोज वह बीमार भी पड़ी रही।

उसकी बीमारी में उस छोकरे ने उसकी खूब टहल की। वह उसे बहुत नजदीक से देख कर, पहचान गयी कि वह भी उसके नारीत्व की गरीबी के प्रति सहानुभूति रखता है। यह पैसा ही जीवन का ऊपरी हाथ है। यह भगवान् और भाग्य दोनों को बाँध कर पकड़ रखने की क्षमता रखता है।

अच्छे होते ही उसे मालूम हुआ कि उसकी शारीरिक मेहनत से अधिक, उसके शरीर की कीमत है। लेकिन पुरातन से चली, चरित्र के प्रति फैली धारणायें उसके आगे हर तरह रुकावट डालती थीं। जैसे चरित्र पैसे से ऊपर हो और अपने शरीर से पैसा कमाकर भाग्य को धोखा देना नारी का अधिकार नहीं। यह दलील बार-बार आगे आती। स्वाभाविक जो हिचकी थी, उससे वह सावधान रहने लगी। कभी-कभी वह क्षण भर के लिए चिन्तित हो उठती। एक दिन उसका दिल पिघल कर इतना भावुक बन गया कि उसने सब चूड़ियाँ तोड़-फोड़ डालीं। तब जाकर उसे चैन मिला। वह चवन्नी उस तरह माँगनी अनधिकार बात लगी। उसने सोचकर तय किया कि वह जल्दी ही, उसके पैसे लौटा देगी। वह खुद कमाकर दुनिया में सिर ऊँचा करके चलगी। यही उसे करना भी है। उस दिन उसके दिल में नयी नयी उमङ्गें भरी रहीं। साँझ होने को थी, अहीरिन ने पूछा—गुड़िया के मेले में वह नहीं चलेगी। वह क्या कहती। मेले में जाना आसान काम नहीं था। उसके लिए भी पैसा चाहिए। वह अपनी पड़ोसिन के आगे अपनी गरीबी का प्रदर्शन करना नहीं चाहती थी। लेकिन क्या करे। बोली ही कि वह चलेगी। अहीरिन को चलना ही नहीं था, वहाँ बहुत सारी चीजें भी खरीदनी थीं। वह बार बार उन चीजों को दुहराती थी। एक-एक चीज का नाम खट-खट-खट करके उसके हृदय पर चोट करता था। रधिया अपने पर और अपनी गरीबी की हालत पर मन-ही-मन झुँझलायी। अहीरिन चली गयी। रधिया कर्तव्य की तरह उठी और उसके आगे वह अश्लील साहूकार याद आया—गुड़िया

का छोकरा। इशारे से उसने उसे अपने पास बुलाकर अठन्नी की माँग पेश की और उसने एक भले पड़ोसी की तरह एक रुपया देकर कहा कि उसके पास रेजगारी नहीं है। रधिया ने वादा किया कि वह मेले से वापस आकर बाकी पैसे लौटा देगी। वह रधिया उस छोकरे के मुँह पर एक घृणित उपहास या चौंकी ; किन्तु वह भावना दबाकर, बाहर निकली और अहीरिन के पास पहुँच गयी। उसे अहीरिन के भाग्य पर फिर ईर्षा हो आयी। वह गरीब है, इसीलिए दुनिया उसको अपना सकती है। उसकी नारीत्व की कीमत आँकी जा सकती है। फिर भी वह दबे मन मेले पहुँची। वहाँ के वातावरण में उसे शान्ति नहीं मिली। एक अजीब विद्रोह हृदय में उठ चुका था। वहाँ आग सुलग रही थी। वह और भी तेज चलने लगी। मेले में चारों ओर हँसी-खुशी फैली थी। अहीरिन चीजों का मोलतोल कर रही थी। और कुछ चीजों को खरीद-खरीदकर रधिया को सौंपती जाती। रधिया की हैसियत वहाँ भी एक साधारण नौकरानी से बड़ी नहीं थी। रधिया सारी पीड़ा दबा गयी। वह चुपचाप चीजों को सावधानी से सँवारती रही। और वे लोग मेले से लौट आये।

रधिया ने रात को खाना नहीं बनाया। बड़ी देर तक फूट-फूटकर रोती रही। बहुत रोयी ! रोयी !! रोयी !!! अपने में ही रोती रही। अपनी निम्नता को पीकर भी रोती रही। वह अपना दुःख किसी पर भी व्यक्त करना नहीं चाहती थी। उसके आगे कुछ जीवन-तस्वीरें मैली-मैली फैल गयीं। वह अवाक् उनको देखती रही। देखती :—

वह ताँगेवालों का अड्डा। जहाँ वह घास बेचती है। वह कितनी गन्दी जगह है। फिर भी वह वहाँ जाती है। उसका सौदा वही बिकता है। उसी की तरह औरतें भी वहाँ जाती हैं। वह चारखाने का तहबन्द बाँधे हुए ताँगेवाला, उससे अश्लील मजाक तो करता ही है, उसे ताँगे में घुमाने का वादा भी करता है। उसे समझाता है कि नारी को स्वयं अधिक खींचकर नहीं रहना चाहिए। नारी में तो स्वाभाविक उदारता

होती है। कब यह जालिम जवानी चली जाय, इसे तो कोई भी नहीं जानता। वह इस तरह घबड़ाती क्यों है। ठीक, उसे अभी पुरुष का सही-सही अनुभव नहीं है न। ओ' पुरुष तो बहुत दयालु होता है। उसका अनुभव कच्चा नहीं। और यह सब चरित्र तो एक ढोंग है। चरित्र पर विश्वास करनेवाली औरतों को इस तरह बाहर खुले-खुले नहीं निकलना चाहिए। इसमें लाज का सवाल नहीं उठता। यह तो खुदा की सृष्टि है, यहाँ पाप-पुण्य कुछ नहीं। सब ढकोसला है।

रधिया यह दलील तो सुनती-सुनती थक गई है। फिर भी घास बेचना उसका पेशा है। अधिक से अधिक दामों में वह अपनी गठरी बेचना चाहती है। और इसके लिए लोग उसे फुसलाने को ज्यादा दाम भी दे देते हैं। वह ताँगेवाला उसी की घास अधिक खरीदता है। कभी-कभी पुचकार और प्यार के चार शब्द भी बोलता है। या फिर एक वीभत्स हँसी हँसेगा। उसे देख रधिया बहुत डरती है फिर भी लाचार है। उसको इन लोगों के हाथ ही तो घास बेचनी है। यही उसका पेशा है। अपने पेशे में उस पर पड़नेवाली साधारण रुकावटों के लिए, वह उसे छोड़ नहीं सकती। अपना रोजगार उसे निभाना ही है। उस बस्ती में जाते हुए घृणा लगती है। लेकिन अब वह उसे पचाने की आदी हो गयी है।

वह बड़ी सुबह वहाँ घास बेचने जाती है। देखती है ताँगेवालों का का हाल। कोई चायवाले से चाय पीता है, कोई पाव रोटी का टुकड़ा दाँती के तले दबाये रहता है। एक घोड़े को मलता मिलेगा, तो दूसरा ताँगे कसने की तैयारी में होगा। इस पर भी वह एक युवती घासवाली को भाँपा करती है। वह साँवली हैं, उनके मजाकों पर टुक मुस्कराती है। यदि कोई चाय का कुल्हड़ दे देता है, तो वह बिना किसी आना-कानी के पी लेती है। या फिर दूसरा बीड़ी देगा और सुलगाकर धुँआ उगालने लगेगी। इन सब बातों में उसे लाज नहीं लगती। वह यह भी सुन चुकी है कि पहले वह उस तहबन्ददार ताँगेवाले की प्रेयसी थी।

अब उसने इसे छोड़ दिया है। और ताँगेवाले अब उसे पटाने की फिक्र में हैं कि वह किसी की सही, एक की प्रेमिका तो रहे। आखिर बिना प्रेमी के उसे खाली तो रहना नहीं है ?

वह दुनिया को आँखें फाड़-फाड़कर क्या नहीं देखती है ? उसने सब कुछ देखा है। दुनिया का रङ्ग-ढङ्ग पहचानती है। ताँगेवालों के पास से घर लौटते रास्ते में पत्थर के कोयलों की ढेरी के पास कुरसी पर ठेकेदार बैठा रहता है। वह रोज रधिया को ताना मार, रुपया दिखलाया करता है। एक दिन रधिया बड़ी सुबह घास बेचकर लौट रही थी, तो उसने देखा था कि उस ठेकेदार की कोठरी से एक अधेड़ औरत बाहर निकली। वह अलसायी और थकी लगती थी। इतना वह समझ गयी कि रात को जरूर वहीं रही है। वह उसे खूब पहचानती है। वह उसके ही मुहल्ले की औरत है, जो बात-बात में झगड़ा बढ़ाकर गाली-गलौज शुरू कर देती है। वह यह भी दुनिया भर से कहती-फिरती है कि वह सती-साध्वी है। वह और औरतों के बुरे चरित्र की व्याख्या भी किया करती है। उसकी दृष्टि में और सब औरतें चरित्रहीन हैं।

रधिया इस तमाशे पर कुछ संकुचित होकर भी, उस पर कोई राय देने को तैयार नहीं हुई। सोचा था उसने, कि गलती उस औरत की नहीं है। वह भी मजबूर होगी। अन्यथा क्यों कोई इस तरह मारा-मारा डोले। उस औरत के लिए उसने दिल में श्रद्धा बटोर ली। वह यह अच्छी तरह समझ गयी कि पुरुष हर तरह नारी पर अधिकार जमाना चाहता है। उसे नारी का शरीर चाहिए। वह उसे खरीदता है, मोल-तोल करता है। सब पुरुष उसकी दृष्टि में उसी श्रेणी में आ गये। वह हर एक को उसी एक निगाह से देखने लगी।

रधिया को फिर भी नींद नहीं आयी। पति मेले से अभी तक लौटकर नहीं आया था। उसने अपने पर बहुत विचार किया। क्यों वह पैसा इस तरह उधार लिया करती है। किस तरह वह रुपया चुकावेगी। क्या

उसका यह व्यवहार ठीक है। और वह जो बिना हिचक उसे कर्जा दे देता है, क्या चाहता है उससे ? वह क्या एक दिन उसकी माँग पूरी करेगी। क्या यही उसने फैसला कर लिया है। गरीब नारी का चरित्र भी कुछ नहीं होता है। हरएक उसे पाने की कोशिश करता है। नहीं तो वही क्या.....

वह जानती है कि सामने जो बड़ा मकान है, उसमें एक रईस रहते हैं। उनके लड़के हैं। उनकी बहुएँ हैं, बेटियाँ हैं, और नाती-पोते हैं। फिर भी वे अपने चश्मे की आड़ से तिरछी निगाह फेंक कर रधिया को रिझाने की कोशिश करते हैं। उनके सिर के सब बाल सुफेद हैं। चेहरे पर बुढ़ापे के कारण झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। वे कहते हैं, 'वह झोंपड़ी में रहने लायक नहीं है। उसकी जगह तो महलों में होनी चाहिए थी। रधिया चाहे तो बात-की-बात में राजरानी बन सकती है। वे हर तरह से रधिया की सहायता करेंगे, यदि रधिया उनका अनुरोध मान ले।' लेकिन रधिया देखती है, उस परिवार में पूरा वैभव है। गृहस्वामिनी सुघड़ स्त्री है। वह अन्दाज नहीं लगा पाती कि दुनिया बावली हो गयी है या वह ? नहीं तो सब उससे यही क्यों चाहते हैं। यदि सबकी बातें झूठी हैं, तो वही क्या और कहाँ की सच्ची है।

लेकिन रधिया का स्वामी मेले से लौट आया। रधिया सँभल गयी। उसकी भावुकता मिट गयी। पति और पास आया। रधिया चौंकी। आज पति शराब पीकर क्यों आये हैं। यह दारू पीनी कब से शुरू की गयी। वह अब क्या करे। पति से उसे यह उम्मीद नहीं थी। वह यह न सह सकी, चुपचाप बाहर खिसक गयी। बाहर घना अंधियारा था। वहीं उसने किसी की धीमी आवाज सुनी। देखा फिर कि कोई औरत टालवाली बुढ़िया की झोंपड़ी के पास खड़ी है। फिर देखा उसने कि वह और टालवाली का जमाई, दोनों ग्वालिन की झोंपड़ी में चले गये। वह सन्न रह गयी। यह क्या खेल है। उसकी उम्मीदों पर भारी धक्का लगा। वह इस कच्ची चोट से तिलमिला कर आगे बढ़ी। गली पार की।

सड़क पर पहुँची। कुत्ते भूँक रहे थे। एक पान वाले की दूकान के अलावा और सब दूकानें बन्द थीं। वह भी अपनी चीजें सँवारकर दूकान बन्द करने की फिक्र में था।

वह आगे-आगे बढ़ी। सोचा, वह भी पाप करेगी। उसे भी पैसा चाहिए। उसे समाज की खास परवाह नहीं है। गरीबों का अस्तित्व समाज में नहीं है। दुनिया में चलने के लिए पैसा चाहिए। धीरे-धीरे वह ताँगेवालों की बस्ती में पहुँची। मालूम हुआ कि वह तहबन्दवाला ताँगे-वाला अभी लौट कर नहीं आया है। कुछ देर उसने उसका इन्तजार किया, फिर भी वह लौटकर नहीं आया। वह ऊब गयी। अधिक न रुककर कोयले के ठेकेदार का दरवाजा खटखटाया। वह भी नहीं खुला। बड़ी देर तक खटखटाया। कोई भी प्रति-उत्तर नहीं मिला। कुछ सँभल कर देखा उसने—ठीक उस पर ताला पड़ा हुआ था। उसे बड़ी निराशा हुई। वह किसी भी तरह घर लौटकर नहीं जाना चाहती थी। वह अपने पति के पास नहीं जावेगी। तभी याद आया कि उसे राजरानी बनना है। बस वह राजरानी बनेगी। वह दौड़ने लगी। दौड़ी-दौड़ी उस बड़ी हवेली के पास पहुँची। उसने देखा कि वहाँ एक कमरे में रोशनी है। हकबका कर उसने खिड़की से देखा वही बूढ़ा पलँग पर लेटा कुछ पढ़ रहा था। उसे भारी उम्मेद हो आयी। उसने दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खुला। रधिया तपाक से बोली—"मैं राजरानी बनने आयी हूँ। जो कहोगे, मानूँगी।"

लेकिन बुड्ढा चुप रहा।

फिर रधिया बोली—"बोलो-बोलो—चुप क्यों हो। तुमने ही मुझे राजरानी बनाने को कहा था।"

अब बुड्ढा हँस पड़ा। बोलो फिर—"तू बड़ी देर में आयी रधिया। अब मैं तेरा क्या करूँ। तेरे बच्चा होने वाला है। तेरी कुछ भी कीमत नहीं। वह देख.....।"

रधिया ने देखा कि दूसरे पलंग पर एक युवती सोयी हुई थी। वह फिर बोला—"मुझे औरतों की कमी नहीं है। नकद पैसे से अच्छे-से-अच्छा सौदा मिल जाता है।"

रधिया की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। वह बाहर निकली। अपनी झोंपड़ी के भीतर पहुँची। उसे खुशी थी कि वह माँ बनने वाली है।

सरला, विनोद और !

"विनोद चला गया।"

"कहाँ !" तन्द्रा से चौंकती सरला बोली।

"वह खुद नहीं जानता कि कहाँ जायेगा।"

सरला अवाक् रह गई, उसका पति भी चुप। दोनों के बीच विनोद का चला जाना विषाद उत्पन्न कर रहा था।

"जीजी भइया कब आवेंगे।" मुन्नी मचल रही थी। सरला जीजी की 'कड़वी घूट न पी सकी। सारा विद्रोह मुलग गया। वह विनोद पागल है। कर्तव्य को नहीं जानता। अपने मन में जो आया, वही निश्चित मान दुनिया का सफर अकेले ही करने की आदत, जैसे कि डाल रहा हो। चला गया—इस तरह जाकर एक अहसान उसे सौंप गया है। कुछ सीधे मुँह, कोई सही बात भी नहीं कह गया था।

और विनोद !

वह कहता था अपने में—सरला दूर तुम रहो। मेरे अपने साम्राज्य के भीतर स्थिर होने की कोशिश न करना। मुझे आज किसी का लिहाज नहीं। अब करतब-अकरतब वाला तकाजा मेरे आगे नहीं। अपने मन का मैं हूँ। अपनी सनक के लिए काफी मजबूरियाँ बटोर, उनको निभा लेता हूँ। तुम्हारी झलक तक से वास्ता मुझे नहीं रखना है। आदमीयतवाला ज्ञान आज अब मेरे पास बाकी नहीं रह गया है।

सरला मायके आई थी, उसी के पड़ोस में, सुबह उसने देखा था कि वह अपनी बैजनी साड़ी पहने खिड़की पर, खड़ी है। सरला ने उसे देखा था, जरा खड़ी रही और फिर भाग कर अन्दर चली गई। पाँच मिनट तक विनोद खड़ा-का-खड़ा ही रह गया था। फिर वह मेज के पास

पड़ी कुर्सी पर बैठ गया। पड़े कागज पर लाल रोशनाई से वैसे लिखने लगा—तुम रङ्गीन साड़ी पहनो, यह दरजा तुम्हारा है। तुम्हारे इस सौभाग्य से मुझे जरा भी ईर्ष्या नहीं है। अपनी मेरी कई परेशानियाँ हैं, अधिकार हैं, उनमें वह तुम्हारी रंगीनी शामिल करना मैं नहीं चाहता। वह अनधिकार चेष्टा होगी।

इतने में सरला कमरे में आई थी। यह देख विनोद धक्क रह गया था। वह बोली थी "भइया।"

'भैया', विनोद मर जाता, जमीन फट जाती, आँधी आती, जलजला ही सही। सारी दुनिया कल देखती, विनोद की बाहुओं में निर्जीव लेटी सरला को।

"चुप क्यों हो। क्या लिख रहे थे?

विनोद चुप था। कुछ भी वह लिखे, उसकी अपनी निजी आदतें हैं। अपने ऊपर सिर पर चढ़ा कर, किसी को वह नहीं रखना चाहता है। कह क्यों नहीं दिया—जाओ तुम सरला। जाओ ही तुम। आई क्यों थी। यहाँ तुम्हारा कोई वश और रिश्ता अब नहीं है। आज मैं बदल गया हूँ। आदमी के इस चोले में भी पशु हूँ। जरूर तुमने पहले जाकर मेरी परेशानी बढ़ाई थी। पपड़ी लगा वह घाव अब दुखता थोड़े ही है। रात-रात पहले मैं जाग कर काट देता था। अब तो हर वक्त आँखों में नींद भरी रहती है। हाँ, तेरे लिए मैंने बहुत कुछ किया था। अब तो सब झमड़ा ही व्यर्थ लगता है।

"बड़े सुस्त लगते हो। बीमार रहे?"

इसका क्या जवाब था। वह सिर्फ 'जापानी डॉल' होती, हिंसा वह कर डालता। वह भी अब नहीं कर सकेगा। और सरला ने कागज उठा लिया, पढ़ा, फाड़ते, टुकड़े-टुकड़े कर बखेरती बोली थी, "यही सीखा है अब?"

"सरला?"

"मैं खुद न आती, तो शायद एक बार देखने के लिए आने का भी खयाल थोड़े ही होगा। मैं तो हूँ चार दिन का मेहमान।"

"मेहमान को देखने ! तुमसे अब क्या मतलब है। वस्तुवादी मैं बन गया हूँ। इसीलिए व्यर्थ का टंटा-बखेड़ा जोड़ लेना उचित नहीं लगता। न वह मुझे पसन्द ही है।"

"क्या कहा" सरला की समझ में बात नहीं आई। एक बार उसके मुँह की ओर टकटकी लगाकर देखती रही।

बोला था विनोद "तुम भी तो बिना इजाजत कमरे में चली आईं। किसी की व्यक्तिगत बातों में क्यों तुम हाथ डालना सीख गई हो ? मुझे कोई खास खुशी तुम्हारे आने की नहीं हुई। हर एक से सरोकारवाला हिसाब मैं नहीं रखता हूँ।"

सरला हँस पड़ी थी। कहा, "अब तो पूरे 'दर्शनशास्त्र' के ज्ञाता हो गए हैं। कागज के टुकड़ों पर यह लिखना भी कोई दिमागी धन्धा होगा। और तो कोई ऐसी बातें लिखते हुए आज तक मैंने पाया नहीं है।"

"अपनों की बातें लिखना...।"

"अपनों की ?" सरला ने बात काटी।

"क्या तुम गैर हो सरला ?"

सरला ने कब कहा था कि वह सगी नहीं है।

विनोद फिर कहने लगा, "अब तो बड़ी सुन्दर लगती हो।"

सरला मन-ही-मन सिकुड़ कर रह गई थी।

"बैठो" कह कर विनोद ने अपनी पेन्टिंग की कापी निकाली, कहना शुरू किया, "यही मेरा अब रोजगार है।"

सरला चुपचाप पन्ने पलट रही थी। एक पन्ने पर अटक गई। छोटे बच्चे के चार सुन्दर पोज थे।

बोला था विनोद "बच्चे की तसवीर देख रही हो। माँ परियों की कहानी सुनाती है। बच्चा भावना में बह जाता है। चित्र में बच्चे की

आँखें देखीं—कुतूहल, भय और आश्चर्य भरा है। राक्षस परी को ले गया, भय होता है। राजकुमार ने समुद्र पार किया, आश्चर्य। राक्षस मार डाला—बच्चा खुश हो उठता है।"

सरला तसवीर देखती ही रह गई।

पूछा था विनोद ने "मेरे लिए क्या लाई हो?"

"कुछ भी नहीं।"

"क्यों!"

"यह थोड़े मालूम था कि तुम यहीं होगे। तुम्हारे भाग जाने की बात मैंने सुनी थी। चार साल में तो अब आई हूँ। अम्मा की बीमारी खींच लाई, वरना..."

"सब बहाना है। भूल गई होगी। कौन किसको याद करता है। मैंने तुमको चिट्ठी भेजी थी।"

चिट्ठी?"

"एक, दो, तीन...।"

"मुझे नहीं मिलीं।"

"नहीं मिलीं?"

"नहीं।"

"खुद मैंने लेटर-बक्स में डाली थीं।"

"मुझे कुछ मालूम नहीं।"

"ठीक हुआ। मैंने न जाने क्या-क्या ऊटपटाँग बातें लिखी थीं।" पढ़कर फायदा भी कुछ न होता। दुनिया में कोई किसी का दुःख बाँट लेना नहीं चाहता है।"

"दुःख बाँट लेना?"

"खैर, कोई खास बात नहीं। रहीं तो अच्छी तरह। स्वार्थ अब तुम्हारा है। सब कुछ है, पति है, घर है। कहाँ तुमको फुरसत होगी?"

"यह क्या बक रहे हो।"

"दुनिया से सबक सीख रहा हूँ। धोखा देकर ही तुम भी तो चली गई थीं।"

"मैं चली गई ?"

"याद है, दीवाली के बाद जब तुम टीका लगाने आई थी। मना मैंने किया था, तुम भी मान गई थी। वह रिश्ता..."

"और शादी से पहले ही तुम न जाने कहाँ चले गये। सिर्फ इतना कह गये थे—अच्छी तरह रहना सरला ? कौन मुझे समझता, मैं लाचार थी।"

"लेकिन जब तुम चली गई थीं, तब मुझे अन्दाज लगा कि मेरे शरीर का हड्डियोंवाला 'फासफोरस' तुम सुलगा कर चली गई हो।"

"अपने पक्ष की कोई दलील तो मैं कर नहीं रही हूँ....."

"तब वह मेरी मजबूरी थी क्या ?"

"हाँ, तुमने कभी भी .. ।"

"सरला !" विनोद कोमल स्वर में बोला। सरला के टप-टप-टप आँसू टपक पड़े थे।

"सरला।"

सरला आँसू पोंछ रही थी।

"चुप रहो सरला।"

"पुरुष हो तुम तो विनोद . "

विनोद की बहन मुन्नी कमरे में आ पहुँची थी। शोर मचाया था—सरला जीजी ! सरला जीजी !!

सरला ने मुन्नी को गोदी में ले लिया था। विनोद बोला था, "इसी का मोह बाकी है, माँ इसे मरते हुए मुझे सौंप गई हैं। यह भार सौंप कर उसे उम्मीद थी कि मैं दुनिया में ठीक रहूँगा। घर अटका रखने की यह व्यवस्था थी। नहीं तो अब तक.....।"

"चुप रहो।" कहती हुई मुन्नी को गोदी में लेकर सरला चली गई थी।

विनोद सरला से न जाने क्या क्या कहना चाहता था। कुछ भी तो कह नहीं सका। वही पुरानी सरला चार साल बाद आज आई थी। उसके पायजेब सीढ़ियों से उतरते बजे थे, उनकी आवाज उसने सुनी थी।

मुन्नी लौट आई थी। आते ही बाजा बजाने लगी। नये नये खिलौने भी उसके पास थे। कहा विनोद ने—सरला भंगी है। जो यहाँ रहता है, वह राजा, जो चला जाता है वह भंगी।"

मुन्नी ने छज्जे से बाहर देखा सरला खड़ी थी। जोर से कहा, "जीजी तू भङ्गी है। यहाँ से क्यों चली गई।" सब खिलौने और बाजा, नीचे सड़क पर फेंक दिए।

और सरला का पति ?

संध्या को विनोद होटल में चाय पीकर उठा ही था कि एक युवक बोला—मिस्टर आप अपना 'अलबम' भूल गए हैं।

वह लौट आया। युवक बोला "आप तो खूब चित्र बना लेते हैं।"

ऐटिकेट का तकाजा था। विनोद बैठ गया।

सब देख कर युवक बोला, "खूब बनाए हैं। निरी भावनाएँ हैं या...?"

"भावना, सूझ, दिमाग इन पर ही निर्भर नहीं रहते हैं।"

"तब .....।"

"सब एक लड़की के चित्र हैं।"

"लड़की के।"

"हाँ....."

"वह कौन है।"

"कभी ठीक तरह उसे पहचानता था, आज नहीं।" कह कर विनोद उठा और चुपचाप बाहर चला गया।

सरला उलझन में थी कि क्यों विनोद चला गया है ? उसका पति बोला, "विनोद होटल में अपना अलबम छोड़ गया।"

सरला ने अलबम ले लिया। पहला पन्ना पलटा, लिखा था—'सरला रानी को।'

अलबम उसने बन्द कर दिया।

उसके स्वामी ने कहा, "वह सुलझा आदमी है। उसकी किसी बात पर अविश्वास नहीं होता है।"

सरला ने अपने स्वामी की ओर देखा।

सरला के स्वामी ने कहा—विनोद ने तुमको चिट्ठी भेजी थीं।

"चिट्ठियाँ।"

"वे सब यह हैं। मैं अकारण अपना सुख हटाना नहीं चाहता था। पति होने के नाते, मेरा तुमसे वास्ता था। मुझको तुम्हारी फिक्र थी। सन्देह का कोई प्रश्न मेरे मन में कभी नहीं उठा। पहली चिट्ठी में 'मिसेज' की जगह गलती से वह मिस्टर लिख गया था। वह मैंने खोल कर पढ़ी। और चिट्ठियाँ खोली नहीं। उनको तुमको देकर तुम्हारी जिम्मेदारी बढ़ाना नहीं चाहता था।"

सरला के हाथ से चिट्ठियाँ जमीन पर गिर पड़ीं। उसने उन सबको उठाना नहीं चाहा। चुपचाप बाहर निकली। बड़ी देर तक बाहर खड़ी रही।

उसका स्वामी बाहर आकर बोला, "वह सरला और उसके स्वामी के लिए चला गया है।"

मुन्नी-फिर बोली, "जीजी।"

सरला ने मुन्नी को गोदी में ले लिया। बाहर निकली। नीचे उतर विनोद के कमरे में पहुँची। सब सामान तितर-बितर पड़ा हुआ था।

मुन्नी चुपचाप सो गई। उसने स्विच दबाया, देखा कि सामने मेज पर डायरी पड़ी है। उठाया। पन्ने पलटे।

एक—सरला रानी तुम चली गईं। ठीक ही किया। तुम्हारा जाना बुरा लगे, लगे; गलत वह नहीं।

पाँचवाँ—सुबह पानी बरसा। ठंड है। चाय पीने की इच्छा होने पर भी मनमारे लेटा हूँ। 'स्टोव' में तेल नहीं। इस वक्त तुम्हारी याद न जानें क्यों आ रही है।

ग्यारहवाँ—कल सफर कर रहा था। एक छोटे स्टेशन पर गाड़ी रुकी। तभी दूसरी गाड़ी आगे बढ़ी थी। उसमें तुम बैठी थीं सरला। तुम्हारे पास कौन था वह ?

चालीसवाँ—अपना एक दुःख होता है और एक पीड़ा। हमारी परेशानी हमको खा डालती है। कैसे उसे बाँटूँ। कौन हकदार है। सरला तो तराजू लेकर भाग गई।

कि सरला का स्वामी भीतर आया, उसे अपने बाहों में समेट बोला—डार्लिंग !

अधूरा चित्र

आज डॉक्टर न-जाने क्या कह गया। मैं उसे अनसुना-सा कर अपने चित्र को बनाने में लीन था। कूची भाव परखती स्वतन्त्र गति से चल रही थी। गोरे-गोरे रंग पर भावों का चढ़ाव-उतार निर्मल जल में उपजी हुई लहरों-जैसा अलग-अलग वृत्तों में बढ़ता था। उस गौरवर्ण में मानसिक लाली भावमय सजीवता भरकर, मेरे चित्र में मूकता के अन्तर्गत एक सजीव सौजन्य का उफान लाती थी।

"पानी !"

बड़ा ही करुण, क्षीण स्वर था ; दूर से आया प्रतीत होता हुआ भी मेरे बिलकुल समीप था। हृदय में एक द्वन्द्व खड़ा हुआ, क्या डॉक्टर की आज्ञा की अवहेलना कर इसे गरम पानी के बदले ठंडा जल दे दूँ ? लेकिन वह इसकी अधिकारिणी न बन सकी : घड़ी की सुई ने ओवल टीन देने के समय की ओर हाथ बढ़ा दिया।

मैंने कूची एक ओर रख दी, और 'फीडिंग बोतल' पर ओवलटीन उँडेल कर उसे पिलाने लगा। एक घूँट—घुटुट्। मैंने एक हाथ से उसे सहारा दिया, वह आराम करने लगी। फिर दूसरी घूँट—वास्तविक शान्तिमय जीवन की धारा का क्रम सा। एक-एक घूँट पीते समय उसके मुँह पर लाली दौड़ जाती। उस पीले चेहरे पर लाल-लाल रुधिर की एक-एक लहर आकांक्षा की एक-एक डोरी-सी अलग-अलग चुनी जा सकती थी। उन काली आँखों की सफेदी में विषाद-मय करुण-कथा के कई चैप्टर थे, जो समय के प्रवाह के साथ-ही-साथ अपनी स्मृति भी अटल बना गये। ओवलटीन की अन्तिम घूँट के साथ ही वह थकी-सी चिन्तिता-सी, शिथिल होकर लेट गई। सहसा डॉक्टर का सन्देहमय कथन याद हो आया।

मैं झल्ला उठा ; यद्यपि कोई नई बात न थी। आज डॉक्टर ने बड़े ही साहस के साथ वही बातें कहीं, जिन्हें कहते-कहते वह बार-बार रुक जाता था। आज कहते समय उसकी आँखों की पलकें भीग गई थीं। वह मेरी इस अटल सेवा का यह पुरस्कार न देना चाहता था। पर अपने कर्तव्य के आगे उसकी एक भी न चली। हार कर उसने कुछ वही सुनाया, जो मैंने अनायास इन बीते हुए दो सालों से पहले ही सोच लिया था—जब कि जीवन-मृत्यु के एक-एक पहलू को मैंने कसौटी पर कसकर जाँचा था। जब जान कर भी मैं अनजान बना था। जब उपलब्धि की डोरी के सहारे मैंने निर्णय का छोर पकड़ा था, और अन्त में हृदय के पूर्ण साहस के साथ उससे विवाह करने को उद्यत हुआ था।

तो क्या मैं पागल था, जो मैंने उससे विवाह किया ? पिताजी ने कहा था, 'क्यों यह बला सिर मोल लेते हो ?' उन्होंने शास्त्रों की दुहाई देकर समझाया था, 'यह मेल ठीक नहीं है।' माताजी ने कई रातें रो-रोकर काटी थीं और अन्त में थोड़ी-सी स्वीकृति तक दे दी थी। भाई-बहन भी अपनी इस अभागिनी भाभी को लाने के पक्षपाती न थे। समाज में मित्रों का दल इसका विरोधी था। वे कहते थे—'जो मन में आवे, करो। पूरे दार्शनिक हो। लेकिन इतना आगे बढ़ना भी क्या ठीक होगा ?' सबका कथन ठीक था। मैं बरबस अपने जीवन को उससे बाँधने पर तुला। यह जानकर भी उसे अपनाना चाहता था, कि वह एक दिन मुझे धोखा देकर फुर से उड़ जायगी।

भला मुझ-जैसा मोटा-ताजा नवयुवक और वह हिस्टीरिया की रोगिणी ! क्षयरोग की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ी हुई उस पीले-पीले चेहरेवाली से कौन विवाह करता ! उसकी दुःखान्त वियोग की कल्पना से भरी विचित्र आँखें, भौतिक शरीर की एक नैराश्यपूर्ण भावमयी मूर्ति ! उससे विवाह करना अपनी आशाओं और सुखों को जीवित ही समाधि में गाड़ देना था।

जिन दिन मैं उसके पास पहले पहल गया था, उसकी चमड़ी का पीला-पीला रङ्ग और गालों की वह क्षण-क्षण भर में उभरनेवाली तीक्ष्ण लाली मुझ पर अपना प्रभाव डाल गई। उसकी गोल-गोल बड़ी-बड़ी आँखों की संसार से एक कातर याचना थी; हृदय पर उनकी गहरी चोट लगती। न-मालूम उनमें कौन-सी मोहिनी शक्ति थी। न-मालूम क्यों मैं किसी अज्ञात प्रेरणा में बँधा-सा खिंचा हुआ उसी समय पागलपन की झोंक में उसकी माता से उससे विवाह करने का प्रस्ताव कर बैठा। उसकी माता ने समझा, मैं उसकी पुत्री की हँसी उड़ा रहा हूँ। मानसिक चिन्ता के आवेग में उसने मुझे बड़ी निष्ठुरता से घूरा। पर मैं अपने निश्चय पर अटल रहा। मुझमें हास्य अथवा व्यंग्य का कुछ भी आभास न पा आखिर वह पूछ ही बैठी—'सच कहते हो बेटा?'

मैंने सिर झुका लिया। मेरी इस शुद्ध हार्दिक प्रार्थना ने, मेरे इस अनुराग और प्रेम ने उसे पिघला दिया। एक दिन हमारा विवाह हो ही गया।

मैंने ऐसा क्यों किया, यह मैं आज भी न जान सका। परन्तु आज भी मैं उसे अपनी भूल न कहूँगा। एक अनमनी सजीव मूर्ति पर अवलंबित हृदयाकांक्षा की आन्तरिक प्रेरणा ने मुझसे यह करने को कहा। मैंने सोचा तो इसे सच भी पाया। मैं सौन्दर्य को वासना की सामग्री नहीं समझता, वह तो कला का वृत्त है और मानसिक तृप्ति के लिए उसका आविर्भाव भी करना पड़ता है। मैं यह जानता था कि जिस अवस्था में वह थी, वह सौंदर्य की प्रथम और अंतिम सीढ़ी थी।

मैं उसे सोहागरात के विलास के लिए नहीं लाया था। उसे लाया था अपने हृदय में छिपाने के लिए। उसे संसार के कोलाहल से दूर मायामोह के झोंकों से हटा कर अपने हृदय में रख लेने के लिए। जहाँ नैराश्य ने कठोर प्रहारों से घाव बना डाले हैं, उन घावों की पीड़ा में मैं उसकी सहानुभूति की क्रीड़ा का निराला जगत् रचना चाहता था। मैं उसे अन्तस्तल की उन विभूतियों में मिलाने लाया था, जिनका मैं संचालक

था। मैं उसे उसी लिए लाया था। मैं उसे उसके हृदय की उस सुलगती हुई अग्नि को बुझाने लाया था, जो वहाँ फफोले बना रही थी। उसके हृदय की उन घनी व्यथाओं को हटाने लाया था, जहाँ मनुष्य की विचारशक्ति चूक जाती है। मैं इतना ही जानना चाहता था कि वह इस आकस्मिक संबन्ध का सहारा पकड़ कर किस कूल की ओर बहेगी। मैं उसके हृदय की गहरी-से- गहरी अनुभूतियों का विश्लेषण करना चाहता था। वहीं पर, प्रेम की नैसर्गिक धारा से परे, यथार्थ जीवन का प्रवाह है। वह प्रवाह पानी की एक छोटी-सी नहर के समान है। उसमें पानी की नीली-नीली गहराई की थाह कौन नहीं पाना चाहता ? उसी नील प्रवाह की याचना हम अपने इस छोटे-से जीवन में करते हैं। उसमें मनुष्य के स्वभाव की दृढ़ता है। उसे पाने में ही जीवन की सार्थकता है।

मैंने उसका नाम भी हिंदू-संस्कृति के नक्षत्रों और लग्नों पर नहीं रहने दिया। मैं उसे अपने रंग में लाना चाहता था। उसके आते ही मैंने उसका नाम बदल डाला।

मैं उसे कहता था कमलिनी। उसने मेरे जीवन को कलामय बनाया। भोले बच्चे के समान अपना हृदय खोलकर मुझे सौंप दिया। मैं भी तन्मय हो उसे पढ़ने लगा। सचमुच मेरे इस त्याग ने उसके हृदय में एक नये जीवन का संचार किया। वह मुरझाया मुख शीतल वायु के झकोरे पा खिल उठा।

हमारे जीवन की प्रथम रात्रि ने ही हमारे हृदयों में स्वर्ग की प्रतिमा बसाई। उस दिन उसे मूर्च्छा आ गई। उँगलियाँ मुड़ गईं, दाँत एक पर एक जम गये। उस दिन मैं पहली बार समझा कि नारी सौंदर्य की रश्मि है और विधि ने उसे इसी के लिए सिरजा है। मैं भौचक्का-सा-न-जाने कितनी देर तक उसे निहारता रहा। उसकी माता ने उसे मुझे सौंपते हुए कहा था—'बेटा, तेरी साधना सफल हो।' इन वाक्यों को न-जाने मैं कितनी बार दुहरा गया। उसकी छोटी बहन ने भी कहा था, 'जीजाजी, गश आते ही दीदी के हाथ-पाँव पर गाय का घी मलना और

सिर पर भी थपथपा देना।' मैं वही तो कर रहा था। एक हाथ की उँगलियाँ मलकर खोलता, तो दूसरे की मुँड़ जातीं। दाँत खोलता, तो हाथ-पाँव मुड़ जाते। अंत में मैंने ही विजय पाई। उसने आँखें खोलीं—ओफ, स्वर्ग की प्रतिमा, अतुल रूपमयी, कितनी भली, कितनी अनूठी!

लेकिन डाक्टर ने तो कहा है.....!

क्या वह अब नहीं बचेगी? परिस्थिति भी तो यही कहती है कि वह मर जायगी। कब उसका अस्तित्व मिट जाय, ठीक नहीं। मैं कुछ भूला-सा चित्र पर ब्रुश फेरने लगा। यह उसका अंतिम चित्र होगा। कल जब वह चली जायगी, उसका अभाव मुझे अखरेगा। मैंने उसका जीवन कई भावमय चित्रों में भर तो अवश्य लिया है, पर उसके सभी चित्र उसके अभाव की पूर्ति करने पर भी नहीं कर सकेंगे। मैं व्यापक भाव से सोचने लगा, 'क्या उसका जीवन इन चित्रों में ही सीमित रह जायगा?' मेरा विश्वास भी यही है। संसार की इस चित्र-शाला में क्रूर काल किसका चित्र नहीं खींचता। समय उसका सत्ता है। बचपन का भोलापन, यौवन की मस्ती, प्रौढ़ता का भावमय रेखांकित मुखमंडल; फिर अन्त में समाप्ति का ड्रापसीन। यही जीवन की परिचर्या है!

विवाह से पहले मैं चित्रकारी से अनभिज्ञ था। तब मैं न जानता था कि चित्र क्या है, वे क्यों बनाये जाते हैं, जीवन में उनका क्या महत्त्व है। चित्रकार बनने के लिए मैंने उससे विवाह नहीं किया था। उस समय तो मैं संसार को दिखा देना चाहता था कि विवाह का मूल्य स्वार्थ नहीं, त्याग है। प्रकृति ने नारी में त्याग की मात्रा अधिक दी है। पुरुष वैवाहिक बन्धनों से स्वतंत्र रहकर मद में झूमते हैं। परन्तु भगवान् ने स्त्री को माया और ममत्व से भर दिया है। जो वहाँ शुद्ध हृदय से एक बार जाता है, निराश होकर नहीं लौटता। मैं भी उन्हीं में था।

हाँ, चित्र बनाने की भावना तो अनायास ही हृदय में आई। उस दिन बड़ी ही मधुर संध्या थी। हम पार्क की हरी-हरी दूब पर लेटे हुए थे। संध्या की उस सुनहली आभा की ईर्ष्या में मूर्च्छा ने उसे धर दबाया। मैंने डरकर उसे अपने हृदय से लगा लिया। मैं समझा, वह प्रकृति की अबोध बालिका है, जो किसी मूक-निमंत्रण की भावनामात्र से उसी में लीन हो जाती है। साथ-ही-साथ किसी ने चुपके से मेरे हृदय में कहा—यह तो शीघ्र ही तुझे छोड़कर चली जायगी। तब तुझे यह सब देखने को कहाँ मिलेगा? यह नैसर्गिक शोभा तुझसे छिन जायगी। दूसरे क्षण किसी और ने कहा—चित्रकार बनकर इस सौंदर्य को अमर क्यों नहीं बना लेता? इस कल्पना ने मेरी आखों के सम्मुख एक स्वप्न का संसार खोल दिया। उसी दिन से मैंने चित्रकारी आरम्भ कर दी। आज मैं सचमुच एक बड़ा चित्रकार हूँ।

आज मेरे पास दर्जनों चित्र हैं। उनमें गहरी नीरवता, गहरी शान्ति, मर्मभेदी दुःखों के साथ गहरी विचार-रेखाएँ अनुरंजित हैं। उनमें वह आध्यात्मिक स्नेह की व्याख्या है, जो गंभीर मुद्रा और रहस्यमय कल्पनाओं के साथ हृदय-मंथन करने में कभी न चूकेगी। वह जीवन-सहचरी के रहस्यमय जीवन की अवहेलना से दूर, कल्पनाओं विकल्पनाओं की ममतामयी अन्तर्वेदना का उच्छ्वास है।

मेरी मेज पर चित्रकारी की पूरी सामग्री है। रंग-बिरंगी पेंसिलें हैं, छोटी-बड़ी कूचियाँ, पतली-मोटी निबें, वाटरकलर, पेस्टल और क्या-क्या नहीं है।

मैं अपने अधूरे चित्र पर जा लगा। डाक्टर के कथनानुसार यह चित्र शीघ्र बन जाना चाहिए। मैं व्यवस्थित गति से पेंसिल चलाने लगा। उसकी ओर निर्निमेष भाव से देख, मुख के भावों को अंकित करने लगा। पर वह तो उत्तेजित-सी होने लगी। बुखार चढ़ आया। मुख पर लाली छाई, फिर पसीने की झलक। मैंने उठकर थरमामेटर लगाया, वह कुछ अच्छी-सी लगी। पर हाथ जल रहे थे। बड़ा भीषण

ताप था। आँखें पीली हो रही थीं। श्वास पूर्ण वेग से चल रहा था और थरमामेटर का पारा निर्भीकता से १०३.५° पर चढ़ गया।

सुबह आठ बजे ९९.५°, बारह बजे १०१°, दो बजे १०२° और शाम को पाँच बजे १०३.५°, यह तो नित्य का नियम है। रात्रि को आठ बजे १०४° तक चढ़ जाता है।

मैंने चार्ट पर टेम्परेचर नोट कर थरमामेटर को झटका दिया। फिर उसे धोकर मेज पर रख दिया और सोचने लगा।

सच, पहले तो यह न था। उन दिनों तो केवल मूर्छा थी और कथनमात्र को क्षय की प्रथम सीढ़ी। कौन जानता था कि दशा यहाँ तक पहुँच जायगी! घरवाले इधर आने में डरते हैं। माताजी पहले ही कुढ़ी बैठी थीं; अब प्रतिदिन गुरु-मन्त्र जपती हैं, 'पिशाचिनी मरती भी नहीं; मेरे लाल को खाये डालती है।' पिता मेरी इतनी तन्मयता देख रो देते हैं। दया और सहानुभूति से उनका हृदय कभी-कभी छलछला उठता है। उनसे जितना होता है, उठा नहीं रखते। डा० माथुर ने पैलोल पिलाने को कहा; वह आ गया। डा० बनर्जी ने ओवलटीन देने को कहा। वह भी आया। वह इंजेक्शन की सुई मोटी है—बदल दो, कलौडियल कैल्सियम के ट्यूब समाप्त होने को हैं—तार देकर मँगाओ। सभी आज्ञाएँ पूरी होती हैं। रुपयों की तो धारा-सी बहती है।

यौवन की मादकता में युवक अपनी नई पत्नी के साथ रंगमय बन कमरे को सजा-धजाकर रखते हैं। पर मेरी कमलिनी का कमरा विश्व की एक निराली पाठशाला का सौंदर्य रखता है। इसमें सांसारिक सुषमा, हर्ष, उल्लास नहीं; विधि के वैचित्र्य की अपूर्ण भावनाएँ हैं। सामने दीवाल पर 'एनिमा' टँगा है। एक कोने के मेज पर 'फीडिंग बोतल' कप आदि हैं। उसके पास ही छोटी मेज पर 'लिस्टरीन', 'ओवलटीन, 'पैलोल', 'हाल्स वाइन', और छोटी-बड़ी कई चिह्न लगी दवा की शीशियाँ हैं। दूसरे कोने की तिपाई पर पानी-भरी सुराही है। कोने में पास ही कारबोलिक और ग्लिसरीन सोप की बट्टियाँ हैं। कमरे के

बीच में पलँग पर वह लेटी रहती है। पलँग के पास ही दो-चार कुर्सियाँ पड़ी हैं, जो दिन भर आने-जानेवालों के सहानुभूति मिश्रित बोझ से दबती हुई अब थोड़ी-थोड़ी टूटने लगी हैं। एक कोने में मेरी चित्र-कारी के सामान से भरी हुई मेज है। उसी के पास एक छोटी चारपाई पर मैं विश्राम कर लेता हूँ। वह सामने की आलमारी उसके कपड़ों और गहनों से भरी है।

अपनी कमलिनी को मैं प्रतिदिवस नई-नई साड़ियों से सजाये रखता हूँ। हाथों की सोने की चूड़ियाँ बीमारी का साथ दे न सकीं, तो मैंने उन्हें सुनार से छोटी करा फिर पहना दिया। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर मैं गरम पानी में तौलिया भिगो उसका मुँह पोंछता हूँ..... फिर.....; हाँ, लिस्टरीन के कुल्ले करवा और माँग में ईंगुर की लाली भर, मैं उसे नई धुली साड़ी पहनाता हूँ।

डाक्टर आठ बजे आता है और कठोर हृदय से सुई चुभाकर चल देता है। कमलिनी की उस समय की पीड़ा देखकर मैं काँप उठता हूँ, मानों सारा कष्ट मुझे ही हो रहा हो। 'इंटरवेनस' के दिन मैं उसकी बाँह को कपड़े से कसकर बाँध लेता हूँ और डाक्टर नस ढूँढ इंजेक्शन देता है। उस समय वह चीख उठती है और मेरी आँखें भी सजल हो जाती हैं। डाक्टर के चले जाने पर मैं उसे बहलाने के लिए कहता हूँ, "कल से यह इंजेक्शन बंद करा दूँगा। बड़ी पीड़ा होती है न?"

वह सिर हिलाकर कहती है, "पर फिर मैं अच्छी कैसे होऊँगी?"

हृदय पर चोट-सी लगती है। मैं चुप हो जाता हूँ, और दूसरे दिन से फिर इंजेक्शन दिया जाता है।

रात को जब मैं उसकी छाती में दवा मलता हूँ, गरम-गरम रुई की तरह से उसे सेकता हूँ, तो ऐसा ज्ञात होता है, मानों मैं उसके अति समीप पहुँच गया हूँ। उसकी हृदय की धुकधुकी स्पर्श होते ही न-जाने मेरे हृदय की धुकधुकी में कब मिल जाती है। हाथ अचानक रुक जाता है और मैं उसे सजीव सौंदर्य मूर्ति के मुख की ओर देखने लगता

हूँ। चार आँखें होती हैं और वह धीरे-से मुसकिरा देती है। मैं अनिर्वचनीय आनन्द में डूब जाता हूँ।

पर यह अन्तिम चित्र! सहसा मेरा ध्यान टूट गया और दूसरे ही क्षण मैं चित्र की ओर बढ़ता हूँ।

पर हाँ, उसका स्वभाव भी दिन-प्रतिदिन चिड़चिड़ा होता जाता है। वह बात-बात में चिढ़ उठती है और कभी-कभी रूठ भी जाती है। जब मैं रकाबी में अनार के कुछ दाने रखकर या अंगूर और भुने हुए नमकीन मुनक्कों को लेकर उसके पास जाता हूँ, तो वह मुँह फेर लेती है और मैं यह भूलकर कि वह बीमार है, उसे गुदगुदाने लगता हूँ। उस समय न-जाने क्यों मैं एक अजीब भावुकता के प्रवाह में बह जाता हूँ। वह भी हारकर मेरी ओर मुँह कर लेती है और हँसती-हँसती सब चट कर जाती है। मैं फिर सोचता हूँ कि रगड़े-झगड़े का यह अध्याय भी उसके जीवन का एक अंग है। उन्हें जीवन के तराजू में तोल, उस सुख-दुःख को बड़ी सावधानी से नाप, एक ठंडी साँस ले, कुछ देर तक सब कुछ भूल-सा जाता हूँ। मानव-हृदय की भावनाओं के महत्व को समझ, भावनाओं से प्रेरित झूठी आशा की छाया में मार्मिक व्यथा की थिरकन को सांसारिक प्रेम के पलड़ों में तोल, मैं सुख को बाँट लेता हूँ।

कमलिनी की बीमारी के साथ ही मेरा जीवन भी बदल गया। सोते-सोते मैं कई बार जागकर देखने लगता हूँ कि अब वह कैसी लगती है। कलाकार के समान मैं इस संसर्ग से पूरा लाभ उठाता हूँ और उसकी गति के साथ-ही-साथ मैं भी बहने लगता हूँ।

आज एक साल से मैं उसके साथ हूँ। बहुत पहले ही मैं समझ गया था कि मेरे हाथों से निकल जायगी। वह रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहनती और मेरे चित्र बनाते समय उस भाव में बैठ जाती, जिससे मैं अपने चित्रों में सजीवता को भर एक अलौकिक आनन्द में डूब जाता

और उसका मुँह चूमते-चूमते उसे थका देता। तब मैं उन्मत्त होकर उसे गाढ़े आलिंगन में बाँध लेता।

फिर उसका प्रवाह किसी दूसरी ओर बहने लगा। वह कुछ रूखी-सी हो गई, कुछ लापरवाह सी। जब मैंने सोने की नई अँगूठी नुमाइश से लाकर दी, तो उसने उसे खो दिया। जब मैंने पूछा—कैसे खो गई तो उसने बड़े लापरवाही से उत्तर दिया, "जैसे चीजें खो जाती हैं।" खाने पीने की मात्रा भी बढ़ गई।

और एक दिन वेदना की छाया थिरक उठी, वह अलसाई सी देर में सोकर उठी, आँखों में विचित्र ज्योति थी, मुखमंडल पर एक अनोखी प्रभावकारी आभा थी। वह बहुत हँस-हँसकर ठठोलियाँ करती। दूसरे दिन भी यही दशा रही। तीसरा, चौथा, पाँचवा दिन भी इसी प्रकार कटा। फिर एक दिन वह बिस्तर पर लेट गई। शिथिलता फैलते-फैलते फैल गई।

मेरे जीवन में वह एक नवीनता लाई। मैं घण्टों चित्र बनाते-बनाते ही अपना समय काट देता। मेरे चित्र भावपूर्ण और सजीव होते। लोग उनका आदर करते, और जब मैं उन्हें अपनी सफलता की देवी को दिखाता, तो वह हर्ष से चिल्ला उठती।

"क्या सच मैं ऐसी ही सुन्दर हूँ?"

मैं कहता, "हाँ"

"नहीं, तुम झूठ बोलते हो, तुमने किसी और का चित्र खींचा है।" वह बड़े ही मदमय भाव से कहती।

"नहीं, यह तुम्हारा ही चित्र है कमलिनी! भला मैं तुमसे झूठ क्यों बोलता।"

उसे विश्वास हो जाता, वह प्रेम से गद्‌गद होकर कहती, "समझ गई, मैं इतनी ही सुन्दर हूँ, सचमुच बड़ी सुन्दरी हूँ। तभी तो तुम मुझको इतना प्यार करते हो।"

उस समय उसकी आँखें डबडबा आतीं। मैं उसे चूम लेता।

ओफ ! उसके होठ जलते होते, उनमें कैसी भीषण ज्वाला होती। मैं उसकी वेदना के दाह से छटपटा उठता; उसे थपकी दे-देकर सुलाता और वह सो जाती।

ठीक ! डाक्टर यह आज क्या कह गया। तो क्या कमलिनी मर भी सकती है ! वेदना की इस तीव्र अनुभूति से तिलमिला कर भी मैं चित्र बनाने लगा—सुन्दर, अपूर्व, विचित्र—कई भाव आये, रङ्ग की धारा बह चली।

फिर मैं अतीत के चित्रों को टटोलने लगा। यह चित्र तो सबसे अनूठा है—उस चाँदनी का चित्र है, जब पूर्णिमा की मध्य रात्रि में शृङ्गालों की हुआ-हुआ सुन कर मैं जग पड़ा था। अचानक देखा कि पार्श्व में सोई वह कितनी भली लगती है, उसके बाल बिखरे थे, मुख शांत था और चाँद की किरणें उस पर आँख-मिचौनी खेल रही थीं। ठोड़ी के नीचे एक हल्की-सी छाया उसकी आभा को दुगना कर रही थी। मेरी चेतना जगी और मैं छत के दूसरे कोने की मेज पर बैठ कर चित्र बनाने में तल्लीन हो गया। ग्रीष्म की वह छोटी रात्रि न-जाने कब बीत गई। प्रातःकाल हो आया, मैं उस समय भी चित्र के भिन्न-भिन्न भावों के चढ़ाव-उतार में लीन था। चित्र समाप्त कर जब पीछे देखा तो वह बोल उठी, "उहूँ"

न-जाने वह कब से जाग रही थी। मैंने मुसकिरा कर वह चित्र उसे दे दिया। वह उसे देख दाँत पर अपने अँगूठे का नाखून बजाकर बोली, "खुट्टी, अब दोस्ती नहीं होगी, क्यों इस प्रकार की चोरी की गई ?"

"लेकिन तुम तो मेरी हो, इसमें चोरी क्या ?"

"समझी, इसीलिए तो रात-रात जगना पड़ता है, लोग क्या कहेंगे।"

"क्या ?" मैं पूछ बैठा।

"हूँ, कल बीमार पड़ जाओगे, तो यही न कि मेरे पीछे बीमार हुए।"

मैं चुपचाप निरुत्तर-सा बैठा रहा।

और वह दूसरा चित्र, हाँ एक दिन वह बातें करती-करती मूर्च्छित हो गई। मैं व्यथा को समेटकर निठुर बना चित्र खींचता रहा। तीन घंटों में जब वह जगी, मेरा चित्र भी समाप्त हो चुका था।

पर आज तो प्रलय की रात्रि है। डाक्टर ने बहुत सोच-विचारकर विधाता के गिने श्वासों को अपने स्टेथेसकोप के सहारे गिना है; तभी तो उसने यह सब कहा है। भला वह झूठ क्यों कहेगा। हाँ, यह तो मैं भी देख रहा हूँ कि आज प्रातःकाल से ही उर्ध्वश्वास चल रही है। हैं! वह तो सचमुच मर जायगी; फिर कल किसका चित्रण करूँगा। वह कितनी भली लगती है; उसके ओठ—मैं उठा और उसे चूमने को बढ़ा। मुँह के पास पहुँचा ही था कि ध्यान आया, कहीं उसकी नींद उचट न जाय। उलटे पाँव लौट आया और फिर चित्र बनाने लगा।

द्वार खोलकर कोई अन्दर आया। माँ आई थीं; साथ में नौकरानी भी। सबकी ड्यूटियाँ बँधी थीं।

"बेटा! अब सो जा," माँ ने कहा। लेकिन मुझे नींद से क्या काम; मैं तो चित्रण को पूर्ण करने पर तुला था। कल से ड्यूटियाँ नहीं बटेंगी; यह कमरा शून्य हो जायगा और कमलिनी? कहाँ बहँक पड़ा—वह चित्र अभी अधूरा ही है।

मैं सँभलकर बैठ गया। कमरे में जगमगाते बिजली के लैम्प का प्रकाश उसके मुँह पर पड़ रहा था। कूची चल रही थी। कभी मैं चित्र की ओर देखता, तो कभी उसकी ओर। हाँ, वह माथे का बल तो ठीक आ गया, लेकिन यह उपेक्षा का-सा भाव कैसे आया? यह कुछ धुलेगा, तभी ठीक होगा। यह पीला रंग गाढ़ा क्यों; कुछ लाली भरी जायेगी।

मैं चित्र बनाने में लीन था। वह नाक की कील, वह माथे की लाल बिन्दी, ये अधखुली आँखें, वेदना की गहरी छाया लिये ये सुन्दर होठ—ठीक तो हैं।

फिर उसे देखने लगा, यह हाथ कुछ झुका होगा और मैं...न-जाने

कितनी देर से चित्र बना रहा था। और वह भाव !... ..यह भी ठीक होगा।

मैं चित्र बना रहा था। उसका अन्तिम चित्र था।

माँ सिसकियाँ लेने लगी, नौकरानी रो उठी।

कूची एक क्षण को रुक गई, हाथ थम गया—मैं काँप उठा, हृदय पर गहरी ठेस लगी।

माँ चीख उठी, "हाय मेरी बेटी।" नौकरानी चिल्ला पड़ी, "हाय मेरी रानी।" डाक्टर के कथन की पुष्टि हुई।

मैं सब कुछ समझ गया। चुपचाप चित्र बनाता रहा, हृदय बैठा जा रहा था।

प्रातःकाल की किरणें कमरे में आईं। मैं अभी तक चित्र समाप्त न कर सका था। कुछ अपनी सुध भी भूल गया था। कमरे में न जाने कब इतने लोग इकट्ठे हो गये। कुछ उसे उठाने को बढ़े।

मैंने कहा, "ठहरो, चित्र पूरा हो लेने दो।" वे हट गये।

फिर सन्नाटा।...मेरी तूलिका चली! यह आँखों की निस्तेजता, यह मुखमंडल पर हल्की सफेदी। सब ठीक ही है। लेकिन ओठों पर इस मधुर मुस्कान का खेलना—कुछ कसर है।

मैं चित्र को सुधारने लगा—वह भाव.....उधर देखा।

वे उसे भूमि पर उतारे न जाने क्या कर रहे थे।

मेरा वह चित्र, उफ! अधूरा ही रह गया।

श्रीपहाड़ी का जन्म श्रावण, सन् १९१२ में जिला गढ़वाल, संयुक्त-प्रान्त में हुआ था।

सन् १९३२–३३ में आप मेरठ में Times of India तथा Statesman के विशेष - प्रतिनिधि रहे, तत्पश्चात् कर्मयोगी (साप्ताहिक) के सहायक-सम्पादक रहे तथा अन्य कई सरकारी संस्थाओं में नौकरी की। 'आल इंडिया रेडियो' लखनऊ में 'हिन्दी-विभाग' में नियुक्त हुए थे; किन्तु राजनीतिक कारणों से वहाँ से हट गए। फिर लगभग पाँच वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सहायक-मंत्री तथा रजिस्ट्रार रहे और आजकल स्वतंत्र-पत्रकार हैं।

केवल कवर—इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, इलाहाबाद में छपा।